हिन्दी पुस्तक एजेन्सी-माला संख्या--२८

राजनीति-विज्ञान



लेखक--

सुखसम्पतिराय भण्डारी



हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

प्रथम बार] चैत्र १९८० [मूल्य १।।=)



जगदीशनारायण तिवारी द्वारा
"वणिक् प्रेस"
६० मिर्जापुर स्ट्रीट,
कलकत्तामें
मुद्रित।

निवेदन

प्रिय पाठकवृन्द ! आज हिन्दी साहित्यमें राजनीति विषयक पुस्तकोंका जैसा अभाव है वह आपलोगोंसे छिपा नहीं है। उस अभावकी पूर्त्तिके लिये ही यह 'राजनीति-विज्ञान' नामकी पुस्तक आपके सामने रखता हू। पाश्चात्य राजनीति-विद्या-विशारदोंके विचारोंका स्थान स्थानपर उल्लेख किया गया है जिससे राजनीतिके गूढ रहस्योंको पाठक सहज ही समझ सकें।

मैंने विशेष ध्यान इस ओर दिया है कि यह पुस्तक राजनीतिके विद्यार्थियोंके लाभकी हो। जहातक मैं समझता हू इससे प्रत्येक विद्यार्थी विशेषकर राष्ट्रीय विद्यालयोंके विद्यार्थी अवश्य लाभ उठावेंगे। यह पाठ्य पुस्तकोंमें रखने योग्य है। मैं अपने इस प्रयत्नमें कहातक सफल हुआ हू इसका निर्णय विद्यालयोंके शुभ चिन्तकों, विद्यार्थियों और प्रेमी पाठकोंके ऊपर है। यदि प्रेमी पाठकोंने सदाकी भांति इसे भी अपनाया तो दूसरे सस्करणको और भी अच्छे रूपमें पाठकोंके सामने रखूंगा।

विनीत—

प्रकाशक

भूमिका

आजकल देशमे राजनैतिक भावनाओंकी अद्भुत जागृति हो रही है। देश स्वराज्य और उत्तरदायित्वपूर्ण शासनके लिए लालायित हो रहा है। पर स्वराज्यकी सफलताके लिए पौर्वात्य और पाश्चात्य राजनीतिविज्ञानकी बडी ही आवश्यकता है। मुझे खेदके साथ कहना पडता है कि, हिन्दीमें राजनीतिके सिद्धान्तोंकी विवेचना करनेवाले ग्रन्थ नाम मात्रके हैं। राजनीतिक साहित्यका अभाव साहित्यमे बहुत खटकता है। इसी अभावकी किंचित् अंशमे पूर्ति करनेके लिये मैंने यह प्रयत्न किया है। मै नहीं कह सकता कि, इसमे मै कहातक सफल हुआ हू, इसका निर्णय करनेका अधिकार पाठकोंको ही है। मैं तो इतना ही निवेदन करना चाहता हू कि यह मेरे एक वर्षके सतत परिश्रमका फल है। इसके लिये मुझे पचासों अंगरेजीके ग्रन्थ देखने पड़े हैं, और उन्हींका सार इसमें भरनेका प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थके लिखनेमे मुझे प्रधान रूपसे निम्नलिखित ग्रन्थोंसे सहायता मिली है जिसे मैं कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता हू।

(1) Theory of the State by Bluntchli
(2) Problems of Political Science by Row
(3) Political Philosophy by Willoughby
(4) The Domain of Political Science by Munro Smith
(5) Elements of political Science by Sidgwick
(6) Introduction to Political Science by Garner

और भी अनेक सुप्रख्यात और प्रमाण भूत ग्रन्थोसे सहायता मिली है अतएव उन लेखकोंके भी हम अत्यन्त कृतज्ञ है।

अजमेर
२७ ३ २३

भवदीय—
सुखसम्पति राय भण्डारी

विषय	पृष्ठ
३८—व्यक्तिवाद	९८
३९—व्यक्तिवादकी उत्पत्ति और विकास	१००
४०—व्यक्तिवादकी समालोचना	१०५
४१—साम्यवाद	११३
४२—साम्यवादकी समालोचना	१२०
४३—अराजकवाद	१२२
४४—बोल्शेविक पन्थ	१५४
४५—नागरिकता	१८६
४६—नागरिक और निर्वाचक	"
४७—नागरिकता और राष्ट्रीयता	१८७
४८—नागरिकताके अन्य भेद	१८९
४९—देशीयकरणके परिणाम	१९३
५०—नागरिकताका नाश	१९५
५१—प्रतिनिधि तत्त्व	१९६
५२—मताधिकारके सिद्धान्त	२०५
५३—साधारण मताधिकार	२०९
५४—स्त्रियोंको मताधिकार	२१२
५५—इङ्गलैण्डमें स्त्रियोंको मताधिकार	२१३
५६—अमेरिकामें स्त्रियोंको मताधिकार	२१४
५७—स्त्रियोंको मताधिकार क्यों दिया जाना चाहिये	२१४

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी-माला संख्या—२६

मुखाकृति निदान

लेखक—प्रसिद्ध जलाचिकित्सक डाक्टर लुई कूने

अनुवादक, अध्यापक श्री रामदास गौड़ एम० ए०

शीघ्रही प्रकाशित होगी।



हिन्दी पुस्तक एजेंसी माला संख्या—३०

वीर केसरी शिवाजी

लेखक—श्रीनन्दकुमारदेव शर्मा

छप रही है।

राजनीति विज्ञान

राजनीतिशास्त्र क्या है ?

भिन्न भिन्न राजनीतिज्ञ राजनीतिशास्त्रकी भिन्न २ व्याख्याएं करते हैं पर सामान्यतया राजनीतिशास्त्रसे उस शास्त्रकी कल्पना होती है जो राज्य (State) के शासन, गुण, कर्म, धर्म तथा उसके भिन्न २ रूपोंका विवेचन करता है। यह दो प्रकारका है, यथा (१) सैद्धान्तिक राजनीतिशास्त्र (Theoretical Politics) और दूसरा व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र (Applied Politics)। सैद्धान्तिक राजनीतिशास्त्र केवल राज्य या राज्यशासनके मूलका, उसके तत्त्वोंका, उसके सिद्धान्तोंका और उसके आदर्शोंका विवेचन करता है। इसके विपरीत व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र उन साधनों और उपायोंका विचार करता है जिनके अवलम्बन-से राजनीतिशास्त्रके तत्त्व, आदर्श व्यवहारोंमें लाये जा सकें। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि यह दूसरी तरहका राजनीति-शास्त्र शासनके व्यावहारिक रूप और कार्य्य पर प्रकाश डालता है। एक सुप्रख्यात पाश्चात्य विद्वानने सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक राजनीतिशास्त्रके उद्देशोंको इस प्रकार प्रकट किया है—

सैद्धान्तिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
राज्यके सिद्धान्तोंका अर्थात् उनके मूल, गुण, धर्म और आदर्शों का विवेचन।	(१) राज्यके व्यावहारिक और प्रत्यक्षरूप या शासनका विवेचन
(२) शासनसिद्धान्त अर्थात् शासन सम्बन्धी संस्थाओं, विभाग व्यवस्था, राज्यकर, कानून आदिके सिद्धान्तोंका वर्णन।	(२) शासनके व्यावहारिक और प्रत्यक्षरूपका वर्णन जिसमें जुदी जुदी शासन-प्रणालियोंका वर्णन और विश्लेषण होगा।
(३) कानून बनानेका सिद्धान्त अर्थात् इसमें कानूनकी उत्पत्ति, उद्देश, विकास आदिका वर्णन रहता है।	(३) कानूनका व्यावहारिक उपयोग।

सुप्रख्यात जर्मन राजनीतिज्ञ ब्लशले (Bluntschli) का कथन है कि "राजनीतिशास्त्र उस शास्त्रका नाम है, जिसमें राज्यके तत्त्वोंका, उसकी मूल प्रकृतिका, उसके गुणधर्मका, उसके विविध रूपों और विकासका वर्णन रहता है। ब्लन्शलेकी तरह एक दूसरा गैरियस (Garies) नामक जर्मन राजनीतिज्ञ राज्यकी व्याख्या इस प्रकार करता है—"राजनीतिशास्त्र राज्यको शक्तिकी संस्था (Institution of Power) समझता है और यह राज्यकी उत्पत्ति, उद्देश और आदर्शपर विचार करता है। पाल जैनेट (Paul Janet) नामक फ्रान्सका

एक नामांकित लेखक राजनीतिशास्त्रको समाजशास्त्रका वह हिस्सा समझता है, जो राज्यके मूल और शासनके तत्त्वोंपर विचार करता है। प्रोफेसर सीली महाशय राजनीतिशास्त्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"राजनीतिशास्त्र शासनके सिद्धान्तों और कार्यों का उसी प्रकार विवेचन करता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र सम्पत्तिका, जीवशास्त्र जीवनका और बीज-गणित अङ्कोंका।

इन सब मतों और व्याख्याओंका सारांश यह है कि राजनीति-शास्त्र साधारणतया सब दृष्टियों और सब बाजुओंसे राज्यका विचार करता है। राजनीतिशास्त्रका आरम्भ और अन्त राज्य हीसे होता है। वह जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, राज्यकी उत्पत्ति, मूल प्रकृति, तत्त्व और उसके विविध रूपों तथा विकासपर विचार करता है।

राजनीतिशास्त्रका अन्य शास्त्रोंसे सम्बन्ध

जिस प्रकार अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र आदि समाजशास्त्रके अङ्ग हैं, वैसे ही राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्रका एक अङ्ग विशेष है। समाजशास्त्रके इन भिन्न भिन्न अङ्गोंमें परस्पर इतना सम्बन्ध है कि इन्हें एक दूसरेसे बिलकुल जुदा कर देना असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। इनका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणके लिये आप राज्यको ले लीजिये। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं—राज्यपर विचार करना राजनीतिशास्त्रका काम

है, पर राज्यहीसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने ऐसे आर्थिक प्रश्न हैं, जिनपर विचार करना अर्थशास्त्रका काम है। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्रका और भी अनेक शास्त्रोंसे सम्बन्ध है। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च राजनीतिक लेखक पाल जैनेट (Paul Janet) लिखता है—राजनीतिशास्त्रका अर्थशास्त्र (Political economy) या सम्पत्तिविज्ञान (Science of wealth) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार उसका कानून-इतिहास और दर्शन-शास्त्रसे भी सम्बन्ध है। जेलिनेक (Jellinek) नामक विख्यात लेखक तो इससे बहुत आगे बढ़कर कहता है कि राजनीतिशास्त्रका सम्बन्ध न केवल अर्थशास्त्र, कानून विज्ञान और इतिहाससे है वरन्, मनुष्यशास्त्र, मानसशास्त्र, नीतिशास्त्र और भूगोलसे भी है। इतना ही नहीं ये सब शास्त्र इसके सहयोगी हैं। यहा हम यह उचित समझते हैं कि इस बातका कुछ खुलासा कर दे कि भिन्न २ शास्त्रोंके साथ इस शास्त्रका क्या सम्बन्ध है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्रका अङ्ग-विशेष है। इन्हें एक दूसरेसे बिलकुल जुदा कर देना दुस्साध्य है। इन दोनोंके बीचमें सीमाबन्धनकी स्पष्ट लाइन खींचना दुष्कर है। राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्रका बच्चा है। हा, वैज्ञानिक अन्वेषणके लिये हम इन्हें थोडी देरके लिये अलग २ कर

सकते हैं,पर इनके बीचमें सीमाबन्धनकी नैसर्गिक लाइन खींचना तो असभव भी कहा जाय तो विशेष अतिशयोक्ति न होगी।

समाजशास्त्र उस शास्त्रको कहते हैं जिसमें शास्त्रीय रीतिसे समाजका इस दृष्टिसे विचार किया गया है कि वह व्यक्तियोंका समुदाय है। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि समाजशास्त्र उस शास्त्रका नाम है जिसमें मनुष्योंका उनके सामुदायिक रूपमें विचार किया गया हो। इसके विपरीत राजनीतिशास्त्र समाजके केवल एक रूपका—राजनीतिक रूपका विचार करता है। अर्थात् राज नीतिशास्त्रका कार्य्यक्षेत्र समाजशास्त्रके कार्य्यक्षेत्रसे सकुचित है। इतना होते हुए भी समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्रका पिता पुत्र तुल्य सम्बन्ध है। जहा समाजशास्त्र समाजपर, मानव समुदायपर सब दृष्टियोंसे विचार कर सकता है, वहा राजनीति शास्त्र समाजके केवल राजनीतिक पहलू (Political side) पर विचार करता है।

इतिहास और राजनीतिशास्त्र

इतिहास और राजनीतिशास्त्रका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हा, यहा हम इतना अवश्य कहेंगे कि जहा समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्रका पिता पुत्र तुल्य सम्बन्ध है, वहा इतिहास और राजनीतिशास्त्रका भाई भाई सा सम्बन्ध है। सुप्रख्यात राज नीतिके लेखक जेलिनेक (Jellinek) महाशयका कथन है, किसी भी प्रकारकी सस्थाओंका अध्ययन, चाहे वे राजनीतिक हों,

चाहे कानूनी या सामाजिक हों, बिना इतिहासकी सहायताके नहीं हो सकता। राजनीतिज्ञके लिये राजनीतिक संस्थाओंके केवल गुण धर्मकाही अध्ययन बस नहीं होता, उसे इस बातका भी अध्ययन करना पड़ता है कि इन संस्थाओंका विकास कैसे हुआ, उनमें समय समयपर किस किस प्रकारके परिवर्तन होते गये और उन परिवर्तनोंसे मनुष्य-समाजकी सभ्यतापर क्या क्या प्रभाव पड़े। राजनीतिज्ञके लिये इन बातोंका जानना अत्यन्त आवश्यक है और ये बातें इतिहाससे,सम्बन्ध रखती हैं। राजनीतिशास्त्र और इतिहासके इस अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धको देखकर राजनीतिके सुप्रसिद्ध आचार्य्य, सीली, महोदय कहते हैं, "बिना इतिहासके राजनीतिशास्त्र निकम्मा है और बिना राजनीतिशास्त्रके इतिहास निकम्मा है"

यद्यपि इतिहास और राजनीतिशास्त्रका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और इतिहास राजनीति-शास्त्रकी सामग्री तैयार करता है, पर हम सुप्रसिद्ध पाश्चात्य राजनीतिक लेखक फ्रीमेन महोदयके इस कथनसे सहमत नहीं कि "इतिहास भूतकालीन राजनीति है या भूतकालीन राजनीति ही इतिहास है।" अगर फ्रीमेन महोदयका अभिप्राय केवल राजनीतिक संस्थाओंके इतिहाससे होता, तो हम उनके साथ सहमत हो जाते पर उन्होंने केवल "इतिहास" लिखकर अपनी व्याख्याको कमजोर कर दिया है। नये २ आविष्कारोंके, भाषाओंके, रीतिरिवाजोंके, उद्योग धन्धोंके भी इतिहास हैं। बतलाइये, इनका राजनीतिशास्त्रसे

ऐसा कौनसा आवश्यक सम्बन्ध है, इसी तरह सब प्रकारकी राजनीतिका भी सम्बन्ध इतिहाससे नहीं है। विशुद्ध तात्त्विक राजनीति (Pure philosophical politics) भी इतिहासमें कैसे समा सकती है?

इतिहासका कार्य्य संसारमें होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाओंका वर्णन करना और उनसे होनेवाले विविध प्रभावोंको प्रकट करना है। इसके अतिरिक्त इतिहासका यह भी काम है कि विविध संस्थाओंके विकास और पतनका परिचय करवाना और यह दिखलाना कि इनमें सृष्टिके नियम किस किस प्रकारसे कार्य्य कर रहे हैं, अर्थात् इतिहासका कार्यक्षेत्र राजनीतिक घटनाओंके वर्णन या विश्लेषणतक ही परिमित नहीं है। वह विशाल है और इतिहास तबसे चला आ रहा है जब मनुष्यमें राजनीतिक भावनाओंका उदय भी नहीं हुआ होगा। इसलिये इतिहास और राजनीतिशास्त्रका घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी यह कहना ठीक नहीं कि "इतिहास भूतकालीन राजनीति है, और भूतकालीन राजनीति आधुनिक इतिहास है (History is past politics or that politics is present history) ।

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

हमने इस अध्यायके आरम्भमें अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्रके सम्बन्धपर कुछ प्रकाश डाला है, पर वह इतना थोड़ा है कि उससे शायद पाठकोंको सन्तोष न होगा। अतएव इसी

विषयपर और दो शब्द लिखने अनुचित न होंगे। इतिहासकी तरह अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्रका भी भाई भाई सा घनिष्ठ सम्बन्ध है विशेष कर इस युगमें तो यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया है कि शायद किसी ऐतिहासिक युगमें ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा होगा। आजकल राज्यकी बहुतसी बातें आर्थिक नीतिपर निर्भर करती हैं। पूंजीदारों और मजदूरोंमें क्या सम्बन्ध है और क्या होना चाहिये? देशकी सम्पत्तिकी किस प्रकार वृद्धि की जावे? कौन कौनसे मालपर कैसे कैसे कर लगाये जायँ? देशके लिये सरक्षण-नीति लाभकारक है कि अबाध्य वाणिज्य नीति? ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध जहा अर्थशास्त्रसे है, वहा राजनीतिशास्त्रसे भी है, इसी प्रकार कई ऐसे विषय हैं, जिनका सम्बन्ध इन दोनों शास्त्रोंसे है।

इकरार-सिद्धान्त

राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जिस सिद्धान्तने गत दो सौ वर्षोंसे यूरोप और अमेरिकाके विद्वानोंका ध्यान खींच रखा है, वह इकरार-सिद्धान्त (The Compact theory) है। हमारे महाभारतमें भी इस सिद्धान्तका दिग्दर्शन है। श्रीयुक्त चिन्तामणराव वैद्य "हिन्दी महाभारत मीमासा" में लिखते हैं —

"राजसत्ताकी मूल उत्पत्ति कैसे हुई और उस सत्ताके साथ ही साथ न्यायानुसार राज्य करनेकी जवाबदेही राजालोगोंपर कैसे आ पडी? इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें एक और सिद्धान्त महा-

भारतमें पाया जाता है। इस सिद्धान्तमें यह कल्पना की गयी है कि राजा और प्रजाके बीच इकरार हुआ था। पाश्चात्य देशोंमें हाब्स आदि राजकीय तत्त्ववेत्ताओंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आरम्भमें राजा और प्रजाके बीच इकरार होता है। इस बातपर ध्यान रहे कि हजारों वर्ष पहले भारतीय आर्य्यों ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। शान्तिपर्वके ६७ वें अध्यायमें यह वर्णन है कि पहले राजाके न रहनेसे बली निर्बलको जलकी मछलियोंकी नाईं खाने लगे, तब सब लोगोंने मिलकर नियम किया कि "जो कोई किसीसे कटु भाषण करेगा, उसे मारेगा या किसीकी स्त्री अथवा द्रव्यका हरण करेगा, उसे हम त्याग देंगे।" यह नियम सब लोगोंके लिये एक सा है, परन्तु जब इसका परिपालन नहीं हुआ तब सारी प्रजा ब्रह्माके पास गयी और कहने लगी कि हमारा प्रतिपालन करनेवाला कोई अधिपति हमें दो, तब ब्रह्माने मनुको आज्ञा दी। उस समय मनुने कहा—"मैं पापकर्मसे डरता हूँ। असन्मार्गसे चलनेवाले मनुष्योंपर राज्य करना पाप है।" तब लोगोंने कहा–"राष्ट्रमें जो पाप होगा, वह कर्ताको लगेगा। तू मत डर, तुझे हम पशुओंका पचासवाँ हिस्सा और अनाजका दशमांश देंगे। शस्त्र अस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरे साथ रहेंगे। तू सुख और आनन्दसे राज्य कर, हम अपने धर्माचरणका चौथा हिस्सा भी तुझे देंगे।" इसको स्वीकार कर मनु राज्य करने लगे। अधर्मी और शत्रुको दण्ड देकर धर्मके समान उसने राज्य किया। इस कथामें

इकरार सम्बन्धी यह कल्पना की गयी है कि राजा धर्मके अनुसार प्रजापर राज्य करे तथा पापियोंको दण्ड दे और प्रजा उसे कर (लगान) दे। मुख्यतः जमीनकी पैदावारका दशमांश और पशु तथा व्यापार आदिका पचासवां हिस्सा दे। यह मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं कि प्राचीन कालमें भारतके राजा और प्रजा दोनों इस प्रतिज्ञाके अनुसार चलते थे और राजा लोग इससे अधिक कर नहीं लेते थे।"

उपरोक्त अवतरण* से हिन्दूशास्त्रोंके अनुसार राजा और प्रजामें इकरारकी क्या कल्पना है, इस बातका ज्ञान पाठकोंको हो गया होगा। अब हम पाश्चात्य लेखकोंकी दृष्टिसे भी इस विषयपर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

महाभारतकी तरह कई पाश्चात्य विद्वानों और राजनीतिज्ञ महानुभावोंने भी यही प्रतिपादित किया है कि प्रजा और राजाके इकरारहीसे राज्यसंस्थाकी उत्पत्ति हुई। प्रजाने राजाओंको कर और अन्य प्रकारकी सहायता देना तथा राजाकी हुकूमत मानना स्वीकार किया, और इसके बदलेमें राजाने प्रजाकी रक्षाका इकरार किया। पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि संसारकी अधिकांश राज्यक्रान्तियां इसी इकरार-सिद्धान्तके कारण हुई। जहां प्रजाने देखा कि राजा अपने इकरारके मुताबिक कर्तव्य नहीं कर रहा है, उस राजाके प्रति प्रजाके भाव दूषित

* यह अवतरण मैंने श्रीयुत प० माधवराव सप्रेके हिन्दी अनुवादसे कृतज्ञता पूर्वक लिया है।

होने लगते हैं और एक समय आता है, जब येही भाव क्रान्तिका रूप धारण कर लेते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य लेखकोंमें जिन्होंने इकरार-सिद्धान्तके विषयपर कुछ लिखा है, सबसे पहला लेखक रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) है। यह इङ्गलैण्डका पादरी था। इसने सन १५६४ में "Ecclesiastical Policy" नामक ग्रंथ लिखा। उसमें इसने पोपोंके धार्मिक अधिकारोंकी रक्षा करते हुए इकरार-सिद्धान्तका समर्थन किया है। इस समय इङ्गलैण्डके लोगों की मनोवृत्ति कुछ ऐसी होने लगी थी कि वे इस प्रकारका कोई सिद्धान्त बडी उत्सुकतासे ग्रहण कर सकते थे, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि राजाके अधिकार प्रजाकी सम्मति पर निर्भर करते हैं, राज्यसंस्थाकी उत्पत्ति प्रजाहीके द्वारा हुई। लोगोंने इस सिद्धान्तको उत्सुकतासे स्वीकार किया, इसके बाद और भी कितने ही बडे २ पाश्चात्य राजनीतिक लेखकोंने इस विषयपर लेखनी उठायी। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक ग्राटियस (Grotius) ने अपने विख्यात ग्रन्थ "Law of War and Peace" में, मिल्टनने अपने "Tenure of Kings and Magistrate" में, प्यूफेन डार्फने अपने "Law of nature and of Nations" में, स्पाइन्शाने अपने "Tractatus Politics" में और इन सबसे विशेष थामस हाब्सने अपने "Leviathan" में इस इकरार-सिद्धान्तकी बडे जोरसे पुष्टि की है। इसी समय सुप्रसिद्ध राजनीतिक लेखक लाक हुए जिन्होंने

"Two Treatises of Government" नामक अपने ग्रन्थमें इस सिद्धान्तकी विवेचनात्मक पुष्टि की है। आपके एक सदी बाद सुप्रसिद्ध पाश्चात्य तत्त्वज्ञ रूसो हुए, जिन्होंने अपने "Le Contrat Social" ग्रथमें विशेष तौरसे इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। आपने इस ग्रथके द्वारा इस सिद्धान्तको अत्यन्त लोकप्रिय कर दिया।

अमेरिकामें भी वहाकी राज्यक्रान्तिके समय, यह सिद्धान्त लोगोंके हृदयोंपर जोरदार अधिकार जमाये हुए था। अमेरिकामें जिस समय राज्यक्रान्ति हुई, उस समय अधिकाश लोगोंका यही ख्याल था कि "इकरार ही अधिकारकी मूलभित्ति है। लोगोंकी सम्मतिहीसे राज्यसस्था अस्तित्वमें आयी है। किसी सरकारको यह हक नहीं है कि वह उन लोगोंसे जबरदस्ती अपनी हुकूमत मनवावे जिसकी स्थापनामें उनकी सम्मति नहीं है।" इस प्रकारके ख्याल क्रान्तिके समय अमेरिकामें फैले हुए थे। अगर यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उस समय ये बातें धार्मिक सिद्धान्तोंकी तरह मानी जा रही थीं।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदीमें इस सिद्धान्तका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ा हुआ दीखता है। यहातक कि इग्लैण्डकी रानी मेरीको यह स्वीकार करना पडा था कि "राज्यशक्ति और कुछ नहीं, केवल लोग और राजाके बीचका इकरार है।" इसी बातको, इसी सिद्धान्तको जार्ज बुचाननने अपनी पुस्तक "Rights of Kings among Scots" में बडी प्रबलतासे पुष्ट किया है।

आगे चलकर और भी कितने ही महान् लेखकोंने इस सिद्धान्तका समर्थन करते हुए राज्य शक्तिकी स्थिति इकरारके इसी सिद्धान्त-पर मानी है।

इकरार-सिद्धान्तकी समालोचना

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं सोलहवीं, सत्रहवीं सदीमें इकरार-सिद्धान्त खूब लोकप्रिय हुआ। अठारहवीं सदीमें भी इसकी खूब बोलबाला हुई। इन तीनों सदियोंमें विख्यात २ विद्वानोंने इसपर कलम उठायी। जनताकी तो बात ही क्या, पर खुद राजाओंतकपर इस सिद्धान्तका प्रभाव पड़ा। पर उन्नीसवीं सदीका प्रभावशाली राजनीतिक मत इसके अनुकूल नहीं रहा। ल्यूडविग (Ludwig), जेरमी बेन्थाम, सर हेनरी मेन, थामस हील ग्रीन, एडमण्ड बर्क, प्रो० ब्लन्शाले, सर फ्रेडरिक पालाक, प्रो० रिची (Ritchie) आदिने इस इकरार सिद्धान्तका खण्डन किया। उन्होंने इसकी निस्सारता दिखलानेका प्रयत्न किया। बेन्थामने तो लिखा है कि यह सिद्धान्त बिलकुल भित्तिहीन है। इसे कोई आधार नहीं अतएव इसपर व्यर्थकी सिरखपी करना फजूल है। सर हेनरी मेनने लिखा है—राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धका यह इकरार-सिद्धान्त व्यर्थ और निकम्मा है। इसी प्रकार अन्य महाशयोंने भी इसकी कड़ी समालोचना की है।

इन समालोचकोंने इस सिद्धान्तके खिलाफ कुछ दलीलें देकर इसकी निस्सारता प्रकट करनेका प्रयत्न किया है।

इनमेंसे कितनोंहीका कथन है कि यह सिद्धान्त इतिहासके अनुकूल नहीं। इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें यह बात हो कि अमुक अमुक राजा और प्रजामें अमुक अमुक इकरार हुआ है, और इसी इकरारपर राज्यसंस्थाकी उत्पत्ति हुई है। सुप्रसिद्ध आंग्लइतिहासज्ञ, ग्रीन, महोदयका कथन है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जावे तो यह सिद्धान्त केवल कपोल कल्पना (Fiction) है। दूसरी बात यह कही जाती है कि यह सिद्धान्त बुद्धिमें भी बराबर नहीं जमता क्योंकि जब मनुष्य बिल्कुल निसर्ग अवस्थामें था, क्या उस समय उसके दिमागमें इस प्रकारके इकरारकी कल्पना आ सकती थी। इस प्रकारके कुछ और भी कारणोंको लेकर कितने ही पाश्चात्य लेखकोंने इस इकरार-सिद्धान्त (Compact Theory) की कड़ी समालोचना की है। ग्रन्थके बढ़ जानेके भयसे हम इस विषयका जो कुछ थोड़ासा दिग्दर्शन हुआ है उसीसे सतोष मानकर इस विषयको यही समाप्त करते हैं।

राज्य उत्पत्तिका पैतृक सिद्धान्त।

प्राचीन समाज-संगठन-विज्ञानके अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान जे० एफ० मेकलेनन महोदयका कथन है—"राजकीय संस्थाकी उत्पत्तिके विषयमें जो पैतृक सिद्धान्त है, उसका आशय यह है कि कुटुम्बके विकासका परिणाम समाजमें परिणत हुआ है और पहले पहल एक मनुष्य, एक स्त्री और कुछ बच्चोंके संयोगसे

कुटुम्ब-सत्ताका आरम्भ हुआ। पहले पहल एक ही कुटुम्ब होगा। विवाह आदि सबन्धसे नये नये कुटुम्बोंकी उत्पत्ति होने लगी। बढ़ते बढ़ते ये जातीय दलोंमें, जातीय दलोंसे समाज आदिमें परिणत होने लगे। यहां यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि इस प्रारम्भिक समाज व्यवस्थामें घरका जो बड़ा बूढ़ा होता था, उसीकी हुकूमतमें सब कुटुम्बके लोगोंको चलना पड़ता था। लोगोंके बढ़ जानेसे जब कुटुम्ब विभक्त होते थे तब भी जो सबसे बड़ा आदमी होता था, सबको उसके आज्ञाधीन रहना पड़ता था। जब समाजका विकास होने लगा और समाजमें सुव्यवस्थाकी आवश्यकता होने लगी, तब उन्होंने इस कौटुम्बिक पद्धतिहीपर राज्यपद्धतिकी नींव डाली अर्थात् जिस प्रकार कुटुम्बमें वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध मनुष्य कुटुम्बके सिरताज और रक्षक समझे जाते थे वैसे ही समर्थ, योग्य, प्रतापशाली और अनुभवी मनुष्यको वे अपना सरदार बना लेते थे और सब उसीके आज्ञाधीन चलते थे। इसी पद्धतिके विकाससे राजकीय सत्ताकी उत्पत्ति हुई अर्थात् इस सिद्धान्तानुसार राज्यकी उत्पत्ति पैतृकसिद्धान्तपर निर्भर करती है। यहां यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस प्रकार कुटुम्बमें पुरखोंमेंसे मुखिया होता था, वैसे ही कुछ अन्तरको लिये हुए राज्यकी भी परिपाटी चली। बस यही पैतृकसिद्धान्तका सारांश है। इस विषयपर जहां कुछ पाश्चात्य विद्वानोंका अनुकूल मत है वहां कितनोंका प्रतिकूल भी है। जो लोग इसके प्रतिकूल हैं, उनका

कथन है कि इस सिद्धान्तकी स्थिति इतिहासपर नहीं है। उन का कथन है कि प्राचीन कालमें केवल पुरुष-प्रधान कुटुम्ब ही न थे, वरन् स्त्री-प्रधान कुटुम्ब भी थे, अर्थात् ऐसे कुटुम्ब भी थे या हैं जिनमें पुरुषके स्थानमें स्त्री कुटुम्बकी मुखिया रहती थी और स्त्रियोंके सम्बन्धसे कुटुम्ब पहचाना जाता था। इसलिये केवल यह कहना कि पुरुष ही सदा कुटुम्बका मुखिया होता आया है और इसी कौटुम्बिक पद्धतिके विकासपर राज्य-उत्पत्ति हुई है, सर्वांशमें सत्य नहीं।

कुछ भी हो, पैतृकसिद्धान्तको अधिक पुष्टि मिल रही है और संसारके इतिहासको अवलोकन करनेपर या समाजरचना-पर विचार करनेपर पैतृकसिद्धान्तकी ही ओर अधिक ध्यान आकर्षित होता है।

शक्तिसिद्धान्त।

कई लेखक राज्य-उत्पत्तिका कारण शक्ति समझते हैं। उनका कथन है कि प्राचीन कालमें कोई शक्तिशाली मनुष्य अपनी भौतिक शक्तिके बलपर उन लोगोंपर अपना अधिकार जमा लेता था, जो राजकीय रूपसे असुसंगठित (Politically unorganized) होते थे, और उनपर अपनी हुकूमत चलाता था। इस प्रकार वह अपना राज्य स्थापित कर लेता था। इसी प्रकार बहुतसे राज्योंकी उत्पत्ति हुई। सुप्रसिद्ध राजनैतिक आचार्य ह्यूम महोदयने अपने "Original Contract" में लिखा

है, "राज्यकी उत्पत्ति उसी समय हुई होगी जब किसी मानव-दलके नेताने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियोंपर अधिकार जमाकर उनपर अपनी हुकूमत लादी होगी।" इस सिद्धान्तके प्रतिपादक राज्य उत्पत्ति सम्बन्धी अन्य सब सिद्धान्तोंसे इस सिद्धान्तको अधिक सत्य और महत्वपूर्ण समझते हैं। वे कहते हैं कि "यह प्रत्यक्ष बात है कि बड़े बड़े साम्राज्य, जिनका प्रताप आज सारे संसारमें छा रहा है, शक्तिके ही द्वारा अस्तित्वमें आये हैं और शक्तिपर ही उनका संगठन है। ब्लन्शलेका कथन है कि राज्यसंगठनमें शक्ति अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है और इस तत्त्वपर राज्यकी भित्ति बहुत कुछ निर्भर करती है।

विकास-सिद्धान्त।

कई सुप्रख्यात लेखकोंका मत है कि राज्य-उत्पत्तिका तत्त्व विकास-सिद्धान्तपर निर्भर करता है। उनका कथन है कि "राज्य न तो ईश्वरकी दस्तकारीका नमूना है, न वह उच्चतम भौतिकशक्तिका परिणाम है, न वह कृत्रिम यन्त्र है, और न वह केवल कुटुम्बका विकासमात्र है, पर वह एक नैसर्गिक और ऐतिहासिक विकासका परिणाममात्र है।" राजनीतिके एक अत्यन्त सुप्रख्यात आचार्य्यका कथन है-"राज्य इतिहासका फल (Product) है, इसका अर्थ यह है कि यह मनुष्य-समाजका क्रमिक (Gradual) और सतत होनेवाला विकास है (It is the grad-

ual and Continuous development of human society) बर्गेस (Burgess) महोदयका कथन है कि जब मनुष्य निरी प्रकृतिकी अवस्थामें (in a state of nature) था, तब उसमें राजकीय भावनाकी जागृति भी नहीं हुई थी, अतएव सामाजिक इकरारवादियोंका यह कथन भ्रमात्मक है कि राज्य-उत्पत्ति इकरार-सिद्धान्तपर एकाएक हो गयी। जिन लोगोंको यह बात भी मालूम नहीं थी कि राज्य किस चिड़ियाका नाम है, उनमें राज्यकी कल्पना आनेमें और उसका विकास होनेमें बहुत समय लगा होगा। पहले पहले यह कल्पना थोडेसे बुद्धिमान और समर्थ लोगोंके दिमागमें आयी होगी और फिर इसका प्रसार साधारण जनतामें हुआ होगा। बिलकुल आरम्भमें "राज्य" केलव कल्पनामें रहा होगा और पीछे क्रमश उसका बाह्य अस्तित्व प्रकट हुआ होगा। पीछे सभ्यताके विकासके साथ साथ उसका सङ्गठन अधिक जटिल होता गया और उसे आधुनिक रूप प्राप्त हो गया।

ईश्वर सत्तात्मक राज्य।

ईश्वरसत्तात्मक राज्य (Theocracy)का रूप प्राय मनुष्यजातिके बाल्यकालमें प्रचलित था। यहा यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि सबसे प्रथम राज्यसत्ताका प्रारम्भ एशिया और अफ्रीकामें हुआ। उस समय वहा ईश्वरसत्तात्मक राज्यहीका उद्भव हुआ।

मनुष्य-जातिके बाल्यकालमें ईश्वरीय सत्ता और प्रकृतिकी रहस्यमय शक्तियोंपर निर्भर रहनेकी अत्यधिक प्रवृत्ति थी। यहांतक लोगोंका विश्वास था कि अमुक अमुक मनुष्यके द्वारा ईश्वर अपना सदेशा भेजता है। अमुक अमुक मनुष्य ईश्वरके दूत हैं। इसी प्रकार प्राचीन कालके लोग राज्यसत्ताको ईश्वरीय सत्ता मानते थे और राजाको ईश्वरका प्रतिनिधि समझते थे। हमारे हिन्दू शास्त्रोंमें भी राजाको विष्णुका अवतार कहा है।

राज्य क्या है ?

हमने पिछले अध्यायमें दिखलाया है कि राज्यकी उत्पत्ति कैसे हुई। हमने दिखलाया है कि इस सम्बन्धमें हिन्दू आचार्यों-के तथा पाश्चात्य विद्वानोंके क्या मत हैं। दोनोंके विचार कहां-तक मिलते हैं और कहां जाकर दोनोंमें अन्तर दृष्टिगत होता है। इसके साथही साथ हमने यह भी दिखलाया है कि राजनीतिशास्त्र क्या है और उसका अन्य शास्त्रोंके साथ क्या सम्बन्ध है। इस अध्यायमें हम यह दिखलाना चाहते हैं कि राज्य क्या है, राज्यके सम्बन्धमें भिन्न २ आचार्योंने किस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याएं की हैं।

सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक शुल्स (Schulze) का कथन है कि राज्यकी व्याख्याएं इतनी अधिक हैं कि उनकी गणना करना कठिन है। प्रत्येक लेखक अपने अपने विचारानुसार राज्यकी व्याख्या करता है। राजनीतिके सुविख्यात अंग्रेज आचार्य्य

हालण्ड (Holland) महोदय राज्यकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

"राज्य मनुष्य-जातिका वह विशाल समुदाय है जो भूमि (Territory)के किसी विशिष्ट हिस्सेमें बसा हुआ रहता है और जिसमें या तो अधिकाश लोगोंकी राय काम करती है अथवा कुछ खास लोग बहुमतके बलपर शासन करते हैं और उन लोगों-पर अपनी इच्छा लादते हैं जो उनका विरोध करते हैं।" हाल (Hall) महाशय राज्यकी व्याख्या हालण्ड महोदयसे कुछ भिन्न प्रकारसे करते हैं। आप केवल राज्यके स्थानोंमें स्वतन्त्र राज्यके लक्षण कथित करते हैं। आपके मतानुसार स्वतन्त्र राज्यके लक्षण ये हैं कि "जिस समुदाय(Community) से वह सङ्गठित हुआ है, उसके कोई खास राजनीतिक ध्येय रहते हैं, उसके अधिकार-में निश्चित भूमि रहती है और वह किसी बाहरी शक्तिके दबाव स्वतन्त्र रहता है।" जर्मन लेखक सिडेल (Seydel) का कथन है—"राज्यका अस्तित्व उसी समयसे आरम्भ हो जाता है जब कई मनुष्य, जिन्होंने भूमिके किसी विशिष्ट हिस्सेपर अधिकार कर लिया है, किसी उच्च शक्ति (Higher will) के नीचे जमा हो जाते हैं।" ग्रोट्यूस (Grotius) महोदय राज्यकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"राज्य स्वतन्त्र मनुष्योंका वह साङ्गोपांग समाज है, जो शुद्ध और सर्वसाधारण उपयोगिता (Common utility) का उपयोग करनेके लिये एकत्रित हैं।" वेटेल (Vattel) इससे कुछ आगे बढकर कहते हैं—"राज्य मनुष्योंके

समाजका या नागरिक समाजका (Body politic) वह समुदाय है, जो अपनी शक्तियोंके सम्मिश्रण (Combination of forces) से सर्वसाधारणके हित और कल्याणकी अभिलाषा करता है। राजनीतिके अत्यन्त प्रख्यात आचार्य ब्लंशले महाशय (Bluntchli) राज्यकी व्याख्या अति संक्षेपमें यों करते हैं—"किसी भूमि-विशेषके राजनीतिक सुसङ्गठित लोगोंका ही नाम राज्य है।" अमेरिकाके संयुक्तप्रान्तकी सुप्रीम कोर्टने राज्यकी व्याख्या करते हुए एक बार लिखा था—"राज्य स्वतन्त्र मनुष्योंका वह समुदाय है जो सर्वसामान्य (Common) लाभके लिये सुसङ्गठित है तथा जो अपने ही पदार्थों पर अधिकार रखता हुआ दूसरोंके अधिकारोंको न्यायदृष्टिसे देखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनके सुप्रख्यात पण्डित फिलिमोर (Phillimore) महाशयका कथन है कि "राज्य लोगोंका वह समुदाय है जो स्थायी रूपसे भूमिके किसी विशिष्ट हिस्सेपर बसा हुआ है और जो समान कानून तथा समान रीतिरिवाजोंसे बद्ध होकर सुचारु रूपसे सुसङ्गठित है, और जो नियमबद्ध सरकार (Organized Government) के माध्यम (Medium) द्वारा उस भूमि विशेषमें बसनेवाले लोगोंपर तथा उस भूमि-विशेषके सब पदार्थों पर अधिकार रखता है तथा जिसे पृथ्वीके किसी देशसे युद्ध या सुलह करनेका तथा अन्य किसी प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध जोड़नेका अधिकार है।" इसके अतिरिक्त कई लेखकोंने अन्य सब बातोंकी उपेक्षा कर आध्यात्मिक और

नैतिक दृष्टिसे राज्यकी व्याख्या की है। एक फ्रेञ्च पण्डितका कहना है कि "राज्य और कुछ नहीं, केवल मनुष्य-जातिके आध्यात्मिक समुदायका दृश्य रूप है।" संसार-प्रख्यात जर्मन पण्डित हेगल (Hegel) का कथन है,"राज्य लोगोंकी इच्छाका दृश्यरूपी बाहरी संघ है।" फलूफिनडार्क इससे आगे बढ़कर राज्यका एक ऐसा संघ मानते हैं, जो लोगोंकी सामुदायिक इच्छा (Collective will) से सञ्चालित होता है। इटालियन पण्डित बार्नहानका कथन है कि "राज्य उस देश और लोगोंका स्वामी है जो संसारकी किसी भी अन्य शक्तिके अधिकारसे स्वतन्त्र है।"

एक सुप्रख्यात अंग्रेज लेखक राज्यको परिभाषा यों करते हैं, "राज्य मनुष्योंका समाज है, जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्र और समानाधिकार मनुष्योंकी बनी हुई सरकारका अस्तित्व रहता है।" अमेरिकाके भूतपूर्व प्रेसिडेण्ट डाक्टर विलसन राज्यकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"राज्य लोगोंका वह समुदाय है, जिनका मूल एक है और जिनकी एक सर्वसामान्य सरकार (Common Government) है। अमेरिकाके राजनीति-विज्ञानके एक लेखक मि० गार्नर राज्यके सम्बन्धमें अपने विचार यों प्रकट करते हैं—

"राज्य शब्दसे राजनीतिक और वैधकानून (Constitutional Law) की भावनाकी कल्पना आती है। राज्य बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक उन लोगोंका समुदाय है, जो भूमिके किसी खास हिस्सेपर बसे हुए हैं, जो बाहरी शासन (Control)

से मुक्त हैं और जिनके पास ऐसी सुसङ्गठित सरकार है जिसका हुक्म अधिकांश लोग मानते हैं।

इस प्रकार अन्य भी कई पाश्चात्य विद्वानोंने राज्यकी व्याख्याएं की हैं। उन सबका विवेचन करनेसे एक बडा ग्रन्थ भर जायगा। उपरोक्त व्याख्याओंसे पाठकोंको यह मालूम हो जायगा कि पाश्चात्य राजनीतिविशारदोंके "राज्य"के सम्बन्धमें क्या क्या विचार हैं। हमने साधारण रूपसे विवेचन किया है। महायुद्धके बाद इस सम्बन्धमें जो विचार क्रान्ति हुई है, उसपर हम किसी अगले अध्यायमें लिखेंगे। हमारे हिन्दू आचार्यों ने इस सम्बन्धमें क्या विचार किया है, इसपर भी हम तुलनात्मक दृष्टिसे आगे विचार करेंगे। अभी हमने राज्यके सम्बन्धमें केवल प्रचलित और आधारभूत माने जानेवाले मतों-को ही प्रकट किया है।

कितने ही लोग 'राज्य' (State) और सरकार (Government) को एक समझ लेते हैं। हमें आश्चर्य है, कुछ लेखकोंने भी दोनोंको एक समझनेकी भूल की है। दर असल—

राज्य और सरकारमें

बडा भेद है। हम तो यहांतक कहनेके लिये तैयार हैं कि इन दोनोंका वास्तविक भेद समझे बिना राजनीति-विज्ञानके कई मूल और महत्त्वपूर्ण प्रश्न बिना हल हुए रह जाते हैं। इन दोनोंको एक मानना राजनीति-विज्ञानकी दृष्टिसे एक गहरी भूल करना है, जैसा कि ऊपरकी व्याख्याओंसे प्रकट है। राज्य एक

सत्ताधारी समुदाय (Sovereign Community) है, जो सर्व-सामान्य हितके लिये राजनीतिक दृष्टिसे सुसङ्गठित है और सरकार राज्यकी उस एजन्सी या सङ्गठनका नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छाको प्रदर्शित करता है तथा जिसके द्वारा अपनी इच्छाकी पूर्ति करवाता है। हा,सरकार (Government) राज्य (State) का एक आवश्यक लक्षण या अंग है पर इससे यह कहना कि सरकार ही राज्य है, बड़ी भूल करना है। जिस प्रकार किसी प्राणीके मस्तिष्कको खास प्राणी नही कह सकते, या किसी कारपोरेशनके 'बोर्ड आफ डायरेक्टर्स' को खास कार-पोरेशन नहीं कह सकते, वैसे ही सरकारको राज्य नहीं कह सकते। राज्यमें सरकारसे विशेष स्थायित्व है। सरकारमें परि-वर्तन होते रहते हैं, पर इससे राज्यका अस्तित्व नष्ट नहीं होता। रूसकी पुरानी सरकार—जारशाहीका अन्त हो चुका, वह नष्ट भ्रष्ट हो गयी, उसकी संस्थाओंमें बड़ा उथल पुथल हो गया, पर इससे रूसका राज्य नष्ट नहीं हुआ। वह बना हुआ है। हा, जिस मैशिनरीके द्वारा वह काम करता था वह नष्ट हो गयी और उसकी जगहपर दूसरी मैशिनरी आ गयी। इङ्गलैण्डकी सरकारमें—उसके मन्त्रिमण्डलमें प्राय परिवर्तन होते रहते हैं पर इससे इङ्गलैण्डके राज्य (State) के अस्तित्वमें कोई धक्का नहीं पहुंचता। इस प्रकारके और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। मतलब यह है कि सरकार राज्यका एक आव-श्यक अंग है। राज्य अपनी सत्ता (Sovereignty) और उच्च-

किसे सरकारको मण्डित करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह कते हैं कि सरकार राज्यका अंग (Organ) है, जिसके द्वारा ाज्यकी सत्ता या इच्छा प्रकट होती है तथा जिसके द्वारा जैसा क हम पहले कह चुके हैं उक्त इच्छाकी पूर्ति होती है। सरकार Government) राज्यकी शक्तियोंका सञ्चालन करती है। ाजनीतिके सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफेसर सीली (Prof Seely) के ब्दोंमें राज्य व्यवस्था(Contrivances)है, जिसके द्वारा राज्यकी ाक्तियां प्रकट की जाती हैं। सरकार खुद सत्ताधारी नहीं, उसके ास खुद असीम अधिकार तथा शक्तियां नहीं हैं, उसके पास जो छ है वह राज्यसे उसके सङ्गठन द्वारा दिया हुआ है। अतएव राज्य और सरकार" इन शब्दोंका उपयोग करते समय इन ोनोंके बीचका अन्तर अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये। नहीं तो सले राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे भूल होनेकी सम्भावना है।

राज्य और राष्ट्र

हम राज्य और सरकारका भेद पीछे दिखा चुके हैं। जिस कार कुछ लोग राज्य और सरकारको एक माननेकी भूल करते , वैसे ही वे राज्य और राष्ट्रको एक माननेमें करते हैं। राज्य ौर राष्ट्रमें सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक अर्थमें प्रयुक्त नहीं ो सकते। राजनीतिके आचार्य्य इन दो शब्दोंका एक अर्थमें ायोग नहीं करते। राष्ट्र राज्य नहीं है। जहां राज्य कहते ाराबर हमारे मनमें उस समाजका चित्र खींच जाता है, जो राज-ीतिक ढङ्गसे सुसगठित है, वहा राष्ट्रसे इससे कुछ भिन्न हो

कल्पनाका आविर्भाव होना है। पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार राष्ट्र अपने पूर्णरूप या अर्थमें मनुष्य-समाजका अंश है, जो अपनी भौगोलिक परिस्थिति या सोमाके कारण शेष ससारसे जुदा है, और जिसमें बसनेवालोंका जातीय मूल (Racial Origin) एक होकर जिनकी भाषा, जिनकी सभ्यता, जिनका साहित्य, जिनके रीतिरिवाज, जिनकी स्वभाव-प्रकृति एकसी है। राजनीतिके कई पाश्चात्य आचार्योंने राष्ट्रमें उपरोक्त लक्षणोंको आवश्यक बतलाया है। पर कुछ पाश्चात्य राजनीतिविशारदोंने राष्ट्र होनेके लिये इन सबकी सब बातोंकी आवश्यकता नहीं समझी है। कुछ लेखकोंने इनमेंकी कुछ बातें अलग कर दी हैं। उदाहरणके लिये राजनीतिशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य्य बर्गेस(Burgess)राष्ट्रकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— राष्ट्र उस लोकसमुदायका नाम है जिसकी भाषा, जिसका साहित्य, जिसका इतिहास, और जिसके रीतिरिवाज एक हैं, जो पृथ्वीके उस हिस्सेमें बसा हुआ है जिसकी भौगोलिक परिस्थिति समान है। बर्गेस महोदय यह आवश्यक नहीं समझते कि एक राष्ट्रमें बसनेवाले सब लोगोंकी जातिमें भी समानता होनी चाहिये। आप भौगोलिक परिस्थितिकी समानता और भाषाकी समानतादीको अधिक महत्व देते हुए इन्हें राष्ट्रके आवश्यक लक्षण समझते हैं। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च आईन-विशारद फ्रेडियर फाडेरे राष्ट्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"राष्ट्र एकही देशमें बसनेवाले उन लोगोंके समाजका सघ (Union) है, जो

एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही कानूनके पाबन्द हैं तथा जिनका जातीय मूल भी एक होकर जिनके रूप रंगमें, जिनके स्वार्थ (Interest) और भावनाओंमें समानता पायी जाती है। आगे चलकर ये महाशय कहते हैं, "जातीय सादृश्य, भाषा, रीति-रिवाज और धर्मकी एकता आदि तत्त्व ही राष्ट्रको बनाते हैं।" राजनीतिशास्त्रके अत्यन्त प्रख्यात लेखक ब्लशले महोदय कहते हैं—"राष्ट्र भिन्न २ धन्धा करनेवाले तथा भिन्न २ सामाजिक स्थितिके ऐसे मनुष्योंका सघ है, जो समान भावना तथा समान जातिसे बद्ध हैं, और जो भाषा, सभ्यता और रीतिरिवाजमें भी समान हैं।" महाशय काल्वो (Calvo) अपनी "अन्तर्राष्ट्रीय कानून" नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि, "राष्ट्रीय कल्पनाका जन्म, जातीय समानता, तथा भाषा-सम्बन्धी समानतासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातीय समानतासे मनुष्योंका पारस्परिक सम्बन्ध प्रेमपूर्ण और अधिक दृढ होता है तथा भाषाकी समानतासे लोगोंको एक ऐसा सर्वसामान्य माध्यम (Medium) उपलब्ध हो जाता है, जिसके द्वारा एक राष्ट्रके सबके सब लोग परस्पर अपने विचारों को आसानीसे एक दूसरेपर प्रकट कर सकें।" मि० गार्नर नामक सुप्रसिद्ध अमेरिकन राजनीतिविशारदका कहना है कि भाषाकी समानता आध्यात्मिक, बौद्धिक और सामाजिक व्यवहार (Intercourse) का एक ऐसा प्रबल शस्त्र है जो जनतामें जागृति उत्पन्न कर उनकी राजनीतिक भावनाओंके विकासका मार्ग खोल देता है। कानून-शास्त्रके सुप्रख्यात यूरोपियन विद्वान गमप्लाविस

(Gumplorvicz) राष्ट्रकी परीक्षा केवल सभ्यताकी समानता (Community of civilization) से करते हैं अर्थात् आपका कहना है कि जहा लोगोंके किसी विशिष्ट समुदायमें सभ्यताकी समानता पायी गयी कि वह समुदाय राष्ट्रमें परिणत हो जाता है इसके अतिरिक्त ये महाशय यह भी कहते हैं कि सभ्यताकी य समानता उस विशिष्ट समुदायके जातीय मूलको प्रकट करनेके साथ इतिहासकी एकताको भी प्रकट करती है अथवा दूसरे शब्दोंमें यह कह लीजिये कि भाषा तथा सभ्यताकी समानत भूतकालिक इतिहासकी समानताका फल स्वरूप हुआ करते हैं। आधुनिक कई राष्ट्रोंके जातीय मूल (Ethnic origin) विभिन्न तथा अस्पष्ट हैं, अतएव उपरोक्त आईनविशारदके मतानुसार यह नहीं कहा जा सकता कि वे राष्ट्रके रूपमें नहीं पहचाने जाते। इस आईनविशारदके मतानुसार जातीय मूलकी समानता राष्ट्रकी अच्छी परीक्षा नहीं है। जर्मन, इटालियन, स्पेनिश और फ्रेञ्च आदि कितने ही पाश्चात्य राष्ट्रोंमें बसनेवाले लोगोंकी वशोत्पत्ति एक सी नहीं है। इन राष्ट्रोंमें कितनी ही भिन्न जातियोंके लोग बसे हुए हैं। पर इन राष्ट्रोंमेंसे प्रत्येकने धीरे अपनी सर्वसामान्य भाषा सगठित कर ली और इन्होंने सर्वसामान्य सभ्यता (Common civilization) का विकास कर लिया और इससे ये देश राष्ट्र समझे जाने लगे।

एक समय यूरोपके कितने ही लेखकोंने यह प्रतिपादित किया था कि धर्मकी समानता राष्ट्रके अस्तित्वका एक आवश्यक अग

ा लक्षण है, पर यूरोपमें ज्यों ज्यों धार्मिक स्वतन्त्रताका विकास ोने लगा, त्यों त्यों इस कल्पनाकी अधोगति होने लगी और ाज तो वहां यह अवसर आया है कि राष्ट्रके संगठनमें धार्मिक ाकताकी कुछ भी आवश्यकता नहीं समझी जाती। वहां यह ल्पना दृढ सी होती जाती है कि भिन्न २ धर्मों को पालते हुए ी मनुष्य राष्ट्रके एक झण्डेके नीचे राष्ट्रीय भावनाओंसे प्रेरित ोकर बडे प्रेमसे इकट्ठे हो सकते हैं। यूरोपमें धार्मिक भावना ्तनी प्रबल नहीं है, जितनी राष्ट्रीय भावना है।

उपरोक्त विवेचनसे पाठकोंको यह ज्ञात हो गया होगा कि राज्य और राष्ट्र एक नहीं हैं। एक राज्य जिस प्रकार कितने ही राष्ट्रोंको तथा जातियोंको अपनेमें समाविष्ट कर सकता है वैसे ही एक राष्ट्रमें कितने ही राज्योंका समावेश हो जाता है। कभी राज्यका क्षेत्र इतना बढा हुआ रहता है कि उसमें कितने ही राष्ट्रोंका समावेश हो जाता है और कभी इसके विपरीत एक राष्ट्रका क्षेत्र इतना विशाल रहता है कि उसमें कितने ही राज्योंका समावेश हो जाता है। आधुनिक संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे पाठकोंको उपरोक्त बातका पता चलेगा। अतएव इससे यह स्पष्ट है कि हर एक राज्य राष्ट्र नहीं है और न हर एक राष्ट्र ही राज्य है। दोनोंमें विभिन्नता है।

गत शताब्दीसे इन दोनोंमें एकता प्रस्थापित करनेकी यूरोपके राजनीतिविशारदोंकी तथा मुसद्दियोंकी कुछ प्रवृति होने लगी है। कितने ही राजनीतिके विशारदोंने अपने ये विचार प्रकट किये

हैं कि राज्योंके पुनः सङ्गठनमें जो सीमाबन्धन किया जावे, वह राष्ट्रोंका विचार कर किया जावे। इसका मतलब यह है कि जो भूमि भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता, संस्कृति तथा भाषाकी समानता आदि कारणोंसे जिस राष्ट्रके अन्तर्गत आती है, उस पर उसी राष्ट्रका राज्य होना चाहिये। पाश्चात्य राजनीतिविशारदोंकी यह प्रवृत्ति राष्ट्रीयताके उस महान् तत्त्वपर निर्भर करती है, जो समान वंश, समान भाषा, समान सभ्यता, समान स्वा और समान राजनीतिक ध्येयोंके लोगोंको समान राजनीति सङ्गठनके अन्तर्गत लाकर उनकी इच्छाका प्रतिबिम्ब सुसङ्गठि राज्य स्थापित करना चाहता है। पर साथ ही ये विद्वा राजनीतिज्ञ यह भी कहते हैं कि उपरोक्त तत्त्वका यह अर्थ नहं है कि प्रत्येक राष्ट्रको चाहे वह क्षुद्रसे क्षुद्र क्यों न हो पर उसे अपने आपको राज्यके रूपमें सङ्गठित करनेका पुश्तैनी अधिका है। वे कहते हैं कि कितने ही ऐसे राष्ट्र हैं जिनमें न तो इतनी जनसंख्या है और न इतनी योग्यता है कि वे अपने आपको राज्य के रूपमें सङ्गठित कर सकें। कई पाश्चात्य पण्डित बड़े अभिमानके साथ इस बातको कहते हैं कि एशिया या अफ्रीका तथा दक्षिणपूर्व यूरोपकी कुछ जातियोंने अपनी इस प्रकारकी राजनीतिक योग्यताका परिचय नहीं दिया, जिससे वे राज्यको सङ्गठित कर सकें तथा चला सकें। इनकी ओर इशारा करते हुए ये लोग इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि राजनीतिक दृष्टिसे निर्बल और अयोग्य मनुष्योंको उन राष्ट्रोंकी रक्षा या देख

देशमें अपने आपको समर्पण कर देना चाहिये जो राजनीतिक दृष्टिसे प्रबल और योग्य हैं। कुछ लेखकोंने तो अपना पैर बहुत आगे बढा दिया है और वे निस्सङ्कोच यह बात कहने लगे हैं कि संसारकी सभ्यताकी रक्षाके लिये प्रबल और योग्य राष्ट्रोंका यह कर्तव्य है कि वे पिछडी हुई जातियोंपर अपना राज्य प्रबन्ध लादें। मनुष्यताके विचारको ताकमें रखकर वे यह कहनेमें भी नहीं हिचके हैं कि आवश्यकता मालूम होनेपर प्रबल राष्ट्रों-का यह कर्तव्य है कि वे पिछडी हुई जातियोंसे भूमिको साफ् कर सभ्य मनुष्योंके लिये उसे निवासस्थान बना दें। हम नहीं समझते कि महायुद्धने संसारको मानवी स्वाधीनता और मानवी समानताका जो सन्देशा दिया है उसमें इन लोगोंकी बातें कहांतक मान्य होंगी। यूरोपकी इस कुटिल और राक्षसी नीतिके कारण आज संसारकी जो महा भयानक दशा हो रही है और मनुष्यजातिका विशाल समुदाय अपनी स्वाधीनताके लिये दूसरोंकी स्वाधीनताको कुचलनेवाले और सभ्यताके ठेकेदार गोरोंके खिलाफ जिस प्रकार उठ रहा है, उसे देखते हुए कहना पडता है कि संसारमें इस महायुद्धके कारण आश्चर्यकारक राजनीतिक जागृति हो रही है और अगर इन्हीं नाशकारी तत्त्वोंपर रहकर यूरोपने बर्ताव किया तो हम दावेके साथ कह सकते हैं कि उसका भविष्य अच्छा नहीं है। उसको चाहिये कि इस प्रकारकी नाशकारी नीति और सिद्धा-न्तोंको बदले, अस्तु।

राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक दृढता, तथा संसारकी स्थायी शांतिके विचारसे यह बात आवश्यक मालूम होती है कि जहाँतक सम्भव हो, वहाँतक राज्योंके सङ्गठन तथा पुनः सङ्गठनमें राष्ट्रीयताके विशुद्ध तत्त्वका उचित सम्मान करना चाहिये। पिछला अनुभव हमें सिखलाता है और इस महायुद्धने तो हमें यह अच्छी तरह सिखला दिया है कि जब २ राष्ट्रीयताकी उपेक्षा कर विजेता राष्ट्रोंने विजित देशोंको अपने आपमें बाटा, तब २ इसके परिणाम अच्छे नहीं हुए। आज संसारमें जो घोर अशान्ति छायी हुई है, उसका कारण यही है कि युद्धकी विजयसे मदोन्मत्त होकर विजेता पाश्चात्य राष्ट्रोंने अन्य कई देशोंकी राष्ट्रीयताकी उपेक्षा कर बिन बुलाये उनके स्वामी या रक्षक बन बैठे। जबतक राष्ट्रोंका सङ्गठन उनमें बसनेवाले लोगोंके "स्वनिर्णय" या राष्ट्रीयताके अनुसार नहीं किया जायगा, जबतक उनपर डाकेजनीकी नीति चलती रहेगी, जबतक उन्हें कुचलनेके नीच प्रयत्न होते रहेंगे, जबतक उनकी राष्ट्रीय तथा उनके राजनीतिक भावोंका ख्यालकर उनके अनुकूल उन्हींकी शासनपद्धति स्थापित नहीं की जायगी, तबतक संसारमें स्थायी शान्तिका स्वप्न देखना व्यर्थ है। अतएव इस समय कितने ही उदारहृदय लेखक और मुत्सद्दी यह बात प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे स्वीकार करने लगे हैं कि संसारकी स्थायी शान्तिके लिये, संसारको भावी खून खराबीसे बचानेके लिये यह आवश्यक है कि संसारके राज्योंका पुन संगठन, राष्ट्रीयता और नैसर्गिक भौगोलिक स्थिति आदि बातोंका ख्याल रखकर किया जावे।

राज्यसम्बन्धी सावयव-सिद्धान्त

कई पाश्चात्य राजनीतिविशारदोंका कथन है कि राज्यके प्रधान गुणोंमेंसे सावयव एकता (Organic unity) भी एक है। सावयव एकता एक ऐसा शब्द है, जिसका ठीक २ अर्थ हमारे बहुतसे पाठक नहीं समझेंगे, अतएव यहा हम इसका खुलासा कर देना आवश्यक समझते हैं। हमारा शरीर भिन्न भिन्न अवयवोंका एक सुसगठित संघ है। शरीरमें जितने अवयव हैं, उन सबका एक दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहा किसी अवयवको चोट लगी कि उसका असर शरीरके सब अवयवोंपर होता है। पैरमें काटा लग जानेसे, हाथमें सुई चुभ जानेसे हाथ और पैरको तो दुःख होता ही है, पर इनके साथ २ शरीरके सब अवयवोंपर भी इसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार किसी अन्य अवयवमें चोट लगनेसे केवल उसीको दुःख नहीं होता, पर शरीरके अन्य हिस्सोंको भी, उसके साथ २ न्यूनाधिक दुःख होता है। देखा गया है कि कभी २ पैरमें जूतेके फोड़ेसे केवल पैरहीको तकलीफ नहीं होती, पर इसका सारे शरीरपर असर होकर मनुष्यको ज्वरतक चढ़ जाता है। इन सब बातोंसे यह प्रकट होता है कि शरीरके सब अवयवोंमें एकता है, इन सबका आपसमें, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक अवयवके सुख दुःखका प्रभाव दूसरे अवयवपर पड़े बिना नहीं रह सकता। शरीरके इन अवयवोंकी इस घनिष्ठ एकताहीका नाम सावयव एकता (Organic unity) है।

कितने ही समाजशास्त्रवेत्ताओं तथा राजनीतिके आचार्योंने शरीरके इन अवयवोंकी एकताका मिलान समाज या राज्यरूपी शरीरके अवयवोंकी एकतासे किया है, और उन्होंने इस सम्बन्धमें एक सिद्धान्त स्थिर किया है जिसे समाज या राज्यकी सावयव-एकता (Organic Theory of the Society or State) कहते हैं। उनका कथन है कि उन लोगोंका समुदाय जो परस्पर एकता के सूत्रमें बंधे हुए नहीं हैं तथा जिनका आपसमें सम्बन्ध नहीं है, समाज या राज्य नहीं कहला सकता। इस प्रकारके विशृंखल समुदायसे समाजका शरीर-संगठन नहीं होता। इनका कहना है कि जिस प्रकार विशृङ्खल और असम्बद्ध अवयवोंसे शरीरका सङ्गठन नहीं हो सकता, उसी प्रकार मनुष्यरूपी उन अवयवोंसे समाज या राज्यका सङ्गठन नहीं हो सकता जो किसी न किसी प्रकारकी एकताके सूत्रसे बद्ध नहीं हैं तथा जिनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरके संगठनके लिये जिस प्रकार उसके भिन्न २ अवयवों-की एकताकी आवश्यकता है, उसी प्रकार कितने ही लेखकोंके मतानुसार समाज या राज्यरूपी शरीरके संगठनके लिये उसके अवयवरूप सदस्योंकी एकताकी आवश्यकता है, पर इस विषयमें कई भिन्न २ मत हैं। समाजशास्त्र या राजनीतिके कितने ही पण्डित इस सम्बन्धमें अद्वैतवाद (Monistic Theory) को सामने लाते हैं और कहते हैं कि सुसंगठित समाज (Organized Society) एक ऐसा समुदाय है, कि जिसमें उन लोगोंका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है जिनसे यह समाज या

समुदाय बना है या सगठित हुआ है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी पदार्थके परिमाणुओंका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, उनका अस्तित्व उस पदार्थमें लीन हो जाता है,ठीक यही दशा समाजके सदस्योंकी होती है। उनका व्यक्तित्व,उनका स्वतन्त्र अस्तित्व विराट शरीर समाजमें लीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा सिद्धान्त है जिसका नाम वैयक्तिक स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त 'Monadnistic Theory' है। यह सिद्धान्त उपरोक्त सिद्धान्तके विपरीत है। इसका मन्तव्य यह है कि समाज और कुछ नहीं, वह लोगोंका या लोगोंके समुदायका एक जुट (Aggregation) है जिसमें कोई वास्तविक एकता नहीं रहती। हर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य या मनुष्योंसे प्राय स्वतत्र रहता है। समाजका उसपर कुछ ऋण नहीं। किसी आकस्मिक समीपता (Accidental Uxtaposition) को छोडकर वह अपने आसपासवालोंसे अलग या स्वतत्र रहता है। इन दो सिद्धान्तोंके बीचका एक और सिद्धान्त है जिसे 'Dualistic conception' कहते हैं। इस सिद्धान्तका यह आशय है कि व्यक्तिका समाजके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध तो नहीं है पर कुछ सम्बन्ध तो अवश्य है अर्थात् व्यक्तिको कुछ अशोंमें समाजके आश्रित रहना पडता है अर्थात् इस सिद्धान्तके मन्तव्यानुसार न तो व्यक्तिका अस्तित्व समाजमें विलीन ही है और न वह समाजसे या अपने आसपासके सामाजिक वातावरणसे बिलकुल जुदा या स्वतत्र ही है।

अब हम सावयव-सिद्धान्त (Organic Theory) पर

वापस आते हैं। इस सिद्धान्तके आचार्य्यों ने मनुष्य शरीरके साथ समाज शरीरकी तुलना करनेका प्रयत्न किया है। इन्होंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि शरीरके रक्तविन्दुओं (Cells) का शरीरके साथ जो सम्बन्ध है ठीक वही सम्बन्ध मनुष्योंका समाजके साथ है।

जैलिनेक (Jellinek) नामक एक विद्वानका कथन है कि राज्यसे सम्बन्ध रखनेवाला यह सावयव-सिद्धान्त बहुत ही पुराना और लोकप्रिय है। सुप्रसिद्ध ग्रीकतत्त्वज्ञानी या राजनीतिशास्त्रका प्राचीन आचार्य्य प्लेटोने अपने 'डी रिपब्लिका' (De Republica) नामक ग्रन्थमें रिपब्लिककी तुलना एक विराट मनुष्यसे की है और बड़े जोरसे यह प्रतिपादन किया है कि सर्वोपरि सुव्यवस्थित सर्वतन्त्र शासन (Common wealth) वही है, जिसकी बनावट तत्त्वतः मनुष्य-शरीरकी बनावटसे समानता रखती है। प्लेटोने कहा है कि जिस प्रकार शरीरके सदस्यरूप किसी अवयवको चोट लग जानेसे सारे शरीरको वेदना होती है और वह उस दु खित अवयवके साथ सहानुभूति दिखलाता है, ठीक उसी प्रकार समाज जिन व्यक्तियोंसे बना है, उनमेंसे किसीको चोट पहुचनेसे सारे समाजको धक्का लगता है। अत्यन्त विख्यात ग्रीक पण्डित सिसरोने राज्य (State) और व्यक्तिकी तुलना की है। उन्होंने राज्यके प्रधानकी उस आत्मासे तुलना की है जो मानव-शरीरको सञ्चालित करती है। इसी प्रकार अन्य कई

लेखकोंने भी इसी प्रकारकी तुलना की है। अठारहवीं सदीके बहुतसे पाश्चात्य लेखकोंने तो इस तुलनाको बडा महत्त्व दिया है। हां, इसके पश्चात् फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिसे इस सिद्धान्तका महत्त्व घटने लगा और इस विचारको विशेष अनुमोदन मिलने लगा कि राज्य और कुछ नहीं केवल एक कृत्रिम चीज है। इससे सावयव-सिद्धान्तको धक्का पहुंचने लगा। पर उन्नीसवीं सदीके मध्यमें फ्रान्सके तत्त्वज्ञानियोंके इस विचारके खिलाफ प्रतिक्रिया शुरू हुई और इस विचारको विशेष प्रोत्साहन मिलने लगा कि राज्य एक शरीर (Organism) है। इस समय लोगोंमें इस सिद्धान्तका बहुत मोह बढने लगा। जर्मन राजनीतिविशारद ब्लशलेने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (Theory of the State) में सावयव सिद्धान्तको बडी योग्यतासे पुष्ट किया है। उसने दिखलाया है कि राज्य मानवी शरीर (Human Organism) का मानों प्रतिबिम्ब है। इन दोनोंमें सादृश्य है। जिस प्रकार शरीरके सदस्य (Organs) कार्य्य और जीवन क्रियायें रहती हैं वैसे ही राज्यमें भी रहती हैं। उसने राज्यकी बनावट (Structure) और जीवनक्रिया (Life process) की मानवीय शरीरके साथ जो तुलना की है, वह अत्यन्त मनोरञ्जक है। उसने दिखलाया है कि राज्य केवल निर्जीव कृत्रिम मशीन नहीं है बल्कि वह एक सजीव, बौद्धिक तथा सेन्द्रिय पदार्थ (being) है। उसने इस बातको सिद्ध करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार तैलचित्र (Oil painting) तेलके बिन्दुओंके समुदायसे कुछ

अधिक है, जिस प्रकार मनुष्य रक्तबिन्दु या अस्थियोंके संमिश्रणसे कुछ अधिक है वैसे ही राज्य राष्ट्री लोगोंके केवल समुदायसे तथा बाहरी कायदे कानूनके सग्रहसे कुछ अधिक है।

जिस प्रकार प्राणि-शरीर (Animal organism) उसके सजीव अवयवों तथा रक्तबिन्दुओं (Cells) से बना है और जिस प्रकार ये अवयव एक दूसरेपर निर्भर करते हुए अपना जुदा २ कार्य्य करते हैं, ठीक यही हालत राज्यरूपी शरीरकी है। यह शरीर व्यक्तिरूप अवयवोंसे बना है और इनका भी ठीक वही हाल है, जो शरीरके अवयवोंका है। शरीरके अवयवोंकी तरह ये व्यक्ति भी, जो राज्य शरीरके अवयव हैं, अपना जुदा २ काम करते रहनेपर भी एक दूसरेपर या समाजपर निर्भर करते हैं। इनका आपसमें सम्बन्ध है। क्या बनावटमें, क्या क्रियामें और क्या अन्य बातोंमें मनुष्यशरीरसे समाजशरीरकी समता है। दोनोंहीका अस्तित्व कृत्रिम साधनोंके बजाय नैसर्गिक साधनोंसे शुरू होता है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच तत्वज्ञानी रूसोने मानवीय शरीरके साथ राज्यकी जो तुलना की है, वह बडी मनोरञ्जक है। मनुष्यके सिरकी तुलना राज्यकी सर्वोपरि सत्तासे, मानवीय मस्तिष्ककी राज्यके कानून और रीति रिवाजोंसे, इच्छाओंकी जजों और मैजिस्ट्रेटोंसे व्यापार, खेती और उद्योगधन्धोंकी मुह और पेटसे तथा सार्वजनिक अर्थकोशकी रक्तके साथ की है। इग्लैण्डके ससारके प्रख्यात दार्शनिक विद्वान् महामति हर्बर्ट स्पेन्सरने अपने समाज-

शास्त्रके मूलतत्त्व (Principles of Sociology) में सुसंगठित समाज (Organized Society) और प्राणि-शरीरकी बड़ी ही सुन्दर तुलना की है। उन्होंने यह दिखलाया है कि क्या प्राणि-शरीर और क्या समाज-शरीर दोनोंहीका आरम्भ पहले पहल कली (Germs)के रूपमें आरम्भ होता है। इन दोनोंपर समानरूपसे निरन्तर वृद्धि क्रिया होती है। इनके अगोंका जैसे २ विकास होता जाता है वैसे २ उनका असादृश्य बढता जाता है और उनके डोलडौल (Structure) में विशेष जटिलता आती जाती है। आप जानते हैं, सबसे क्षुद्र प्राणीकी क्या स्थिति रहती है। वह जो कुछ है सो उसका पेट, श्वास, नलिका या पसली है। इनके अतिरिक्त उसके शरीर-की बनावटमें कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार समाज, उसकी अत्यन्त बाल्यावस्थामें क्या था? वह केवल बहादुरों, शिकारियों और 'भद्दे' औजार बनानेवालोंका समुदाय ही था। पीछे जैसे जैसे समाजका विकास होता गया और उसकी जटिलता बढती गयी वैसे वैसे उसमें श्रमविभाग होने लगा। हमारा हिन्दुओंका जातिभेद इसी श्रमविभागपर निर्भर करता है। मतलब यह है कि जिन तत्त्वोंसे प्राणियोंके शरीरका विकास होता है उन्हीं तत्त्वोंके अनुसार समाजशरीरका भी विकास होता है। पर इन सब बातोंकी समानता दिखलाते हुए भी स्पेंसर महोदयने प्राणि शरीर और समाज शरीरका एक तुलनात्मक भेद दिखलाया है। आपका कथन है कि प्राणि-शरीर और राज्य-

रूपी शरीरमें एक मार्केका भेद है। प्राणि-शरीरकी बनावट आपके मतानुसार सुसगठित है अर्थात् उसके एक एक अङ्ग परस्परमें बड़े गहरे सम्बन्धके साथ एक दूसरेके साथ सम्बद्ध हैं। इसके विपरीत समाजशरीर असम्मिश्रित है, अर्थात् उसके अग स्वतन्त्र होनेसे कम ज्यादा बिखरे हुए हैं। वे इस भेदको तात्विकभेद स्वीकार करते हैं। पर साथ ही साथ आप यह भी मानते हैं कि इस भेदके रहते हुए भी दोनोंकी तुलना की जा सकती है। क्योंकि आप कहते हैं कि समाजशरीर असम्मिश्रित होनेपर भी साराका सारा चैतन्यमय है। स्पेन्सर महोदयने उपरोक्त भेदके अतिरिक्त प्राणि-शरीर और समाज शरीरमें एक और भेद दिखलाया है। आपका कथन उद्देशोंकी भिन्नता है। मनुष्य-शरीरमें उसके जुदे २ अवयवों का उद्देश अपना अपना काम करते हुए सारे शरीरकी सेवा करना रहता है अर्थात् उनका कोई स्वतन्त्र अस्तितत्व नहीं रहता। उनका सारा दारोमदार सारे शरीरके लाभपर निर्भर करता है। यह बात स्पेन्सर महोदयके मतानुसार समाज-शरीरके लिये लागू नहीं की जा सकती। आपके विचारानुसार समाजका अस्तित्व उसके सदस्योंके लाभके लिये है, सदस्यों या मनुष्योंका अस्तित्व समाजके लिये नहीं। समाज-शरीर और प्राणि शरीरके इसी भेदपर स्पेन्सर महोदयने अपने व्यक्ति-वाद विषयक राजनीति-विज्ञानकी नींव खड़ी की है। स्पेन्सर महोदय व्यक्तित्ववाद (Individualism) के पूरे पूरे

हिमायती थे। कितनेही विद्वानोंका कहना है कि स्पेन्सर महोदयका सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) उनके उपरोक्त व्यक्तित्ववादके सिद्धान्तके साथ मेलजोल नहीं खाता।

इसी प्रकार (अल्बर्ट शेफले) नामक सुप्रख्यात आस्ट्रियन विद्वान् एव कानून पण्डित (Jurist) ने प्राणि-शरीर और समाज शरीरकी तुलना करनेमें बड़ा परिश्रम और अध्ययन किया है। आपने आस्ट्रियन भाषामें दी स्ट्रक्चर एन्ड लाइफ आफ दी सोशल बाडीThe structure and life of the Social Body नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थमें बड़ी ही विद्वत्ता और विस्तारके साथ ग्रन्थलेखक महोदयने प्राणि शरीर और समाज शरीरकी शरीर-शास्त्र, जीव विज्ञान और मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे तुलना कर दोनोंमें आश्चर्यकारक सादृश्य दिखलानेका प्रयत्न किया है। आपने दिखलाया है कि समाज एक शरीर है जिसका जीवनतत्त्व या अंग मनुष्य है। आपने इस ग्रन्थमें जिस अपूर्व विद्वत्ता और आश्चर्यकारक खोजका परिचय दिया है, वह आपके अगाध ज्ञान, अपूर्व प्रतिभा और प्रशंसनीय अन्वेषण शक्तिका पता देता है। आपहीके समान पाल लालिन फेल्ड नामके रूसी समाज शास्त्रवेत्ताने इन दोनोंमें समानता दिखलानेमें अपूर्व प्रतिभा शक्ति, गम्भीर गवेषणाशक्ति और विद्वत्ताका परिचय दिया है। आपने एक ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम "Thoughts Concerning the social science of the Future" है। इसके पाच बड़े २ भाग हैं।

आपने सावयव सिद्धान्तका बडी ही योग्यतासे समर्थन किया है। आपने इस सिद्धान्तका जिस मार्मिकतासे खुलासा किया है, वह आश्चर्यजनक है। आपने समाजके मनोविज्ञान (Social sy chology) और समाज-शरीरका बडाही सुन्दर प्रकटीकरण कर प्राणि शरीरके साथ उसकी बडी ही अच्छी तुलना की है। कई बातोंमें यह स्पेन्सर और शेफले (Schaffle) से भी आगे बढ गया है। इसी तरह आगस्ट कोमट (August Comte), टार्ड (Tarde) लिटारन्यू (Letourneau), डि ग्रेट (De Great), फौले (Fowllee) और रनवर्म्स (Rene Worms) आदि फ्रेञ्च तत्त्वज्ञानियोंने तथा कुछ जर्मन दार्शनिकोंने भी सावयव-सिद्धान्तको पुष्ट और समर्थन करनेका प्रयत्न किया है। इनमेंसे फ्रेञ्च तत्त्वज्ञानी और समाजशास्त्रवेत्ता वर्म्स तो इस सिद्धान्तका सबसे अधिक हिमायती है। उसने कहा है कि समाज-शरीर और प्राणि शरीरमें आश्चर्यकारक-समानता पायी जाती है।

सावयव-सिद्धान्तकी समालोचना

यह तो हुई उन महानुभावोंकी बातें जो सावयव सिद्धान्तके जनक, पुष्टिकर्ता या हिमायती हैं। अब उन लोगोंकी बाते भी सुन लीजिये, जो इसके विरोधी हैं। इन महानुभावोंका कथन है कि प्राणि-शरीरके तत्त्वोंकी और सुसङ्गठित समाज-शरीरके तत्त्वरूप मानव प्राणियोंकी तुलना करना सर्वांशमें ठीक नहीं।

हा; इन दोनोंमें कुछ समानता जरूर है, पर वह इतनी नहीं है जिससे दोनोंकी पूरी २ तुलना की जा सके। प्राणि-शरीरमें जो रक्तबिन्दु (Cells) हैं वे केवल पुदगल (Matter) के टुकड़े हैं, जिनका कि कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। इनमें कोई स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं है। ये केवल सारे शरीरके जीवनकी सहायता या उत्तेजना करते हैं। अगर ये शरीरसे जुदा कर दिये जावें तो इनका कोई मूल्य नहीं। इसके विपरीत समाज-शरीरके मनुष्यरूप तत्त्वोंकी यह हालत नहीं है। इनमें स्वतन्त्र बुद्धि है, इनमें अपने निजकी इच्छाशक्ति है, इनमें दूरदृष्टि है, इनमें आत्मसंयमकी शक्ति है, इनमें स्वतन्त्र जीवन और गति है, इनमें उस सारे शरीरसे (जिसके कि ये अङ्ग हैं) स्वतन्त्र आधि-भौतिक जीवन है। हर एक व्यक्ति अपनी इच्छाके अनुसार अपना जीवन ढालनेकी शक्ति रखता है। उसके कार्य समाज-के मध्यवर्ती अवयवोंसे सञ्चालित नहीं होते। इसके विपरीत प्राणि शरीरके रक्तबिन्दुमें इस प्रकारकी शक्तियां नहीं हैं। इनमें व्यक्तिके समान गुण, बुद्धि, प्रतिभा, स्वतन्त्र गति आदि नहीं हैं। इससे समाज शरीरके जीवन रूपतत्त्वोंकी प्राणि शरीरके तत्त्वोंके साथ वास्तविक तुलना नहीं हो सकती। जो कुछ तुलना हो सकती है, उसमें कृत्रिमताका भाव अधिक है। एक बात और है, वह यह है कि व्यक्ति समाजसे अलग होकर भी व्यक्ति ही रह सकता है पर यह बात प्राणि-शरीरके तत्त्वोंके लिये नहीं कही जा सकती। शरीरसे अलग होनेपर इनका अस्तित्व शरीर-तत्त्वके

रूपमें नहीं रहता। इसके अतिरिक्त वृद्धि, विकास, विनाश और मृत्युके जो नियम प्राणि-शरीरमें काम करते हैं वे राजनीतिकी दुनियामें नहीं करते। इस प्रकारकी कई बातें हैं, जिनसे प्राणि-शरीर और समाज शरीरकी तुलनाका कार्य असमभव हो जाता है और सावयव सिद्धान्तकी कमजोरी प्रकट होती है। कई आधुनिक राजनीतिज्ञोंका तथा समाज-शास्त्रवेत्ताओंका कथन है कि इन दोनोंकी कृत्रिम बातुओंकी तुलना कर जो फल निकालनेका प्रयत्न किया जाता है वह ठीक नहीं, क्या इससे यह सिद्ध करना है कि व्यक्तिका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और राज्य या समाजमें वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूल जावे और व्यक्ति वादका अन्त हो जावे।

राज्यके आवश्यक तत्त्व।

लोग।

राज्यका भौतिक शरीर जिन तत्त्वोंसे सङ्गठित होता है, उनमें सबसे प्रथम और आवश्यक तत्त्व "लोग" हैं। जो लोग राज्यमें बसते हैं, या जो लोग राज्यके सदस्य हैं, उनके दो विभाग हो सकते हैं (१) नागरिक और (२) प्रजाजन। नागरिक उन्हें कहते हैं, जिनकी राज्यके शासनमें आवाज होती है अथवा जो मताधिकार रखते है। प्रजाजन उन्हें कहते हैं, जिनकी राज्यशासनमें कोई आवाज नहीं होती, जिन्हें मताधिकार नहीं रहते, जो केवल हुकूमतके पाबन्द रहते हैं। यहा यह ध्यानमें

रखना चाहिये कि हर एक नागरिक प्रजाजन होता है, पर यह आवश्यक नहीं कि हर एक प्रजाजन नागरिक हो। हर एक राज्यमें कई ऐसे विदेशी रहते हैं, जिन्हें उस राज्यमें नागरिकताके हक नहीं रहते। राज्य केवल उनकी रक्षाके लिये जिम्मेदार रहता है और इसके बदलेमें उन्हें उक्त राज्यकी हुकूमतका पाबन्द रहना पड़ता है।

हमें दुःखके साथ कहना पड़ता है कि भारतवासियोंको अपनी ही इस भूमिमें उसी ढङ्गसे रहना पड़ता है, जिस ढङ्गसे पाश्चात्य देशके किसी राज्यमें विदेशी रहते हैं। शासन सुधार पास होनेके पहले भारतवासियोंकी राज्यमामलोंमें कोई आवाज नहीं थी। रिफार्म ऐक्टके पास हो जानेपर भारतवासियोंको थोड़ेसे टूटेफूटे अधिकार मिले हैं, पर उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतवासियोंको नागरिकताके आवश्यक अधिकार मिल गये। देशी राज्योंमें तो इससे भी गयी बीती हालत है। वहां प्रजा सदियोंसे अत्याचार सहती २ और निरंकुश शासकोंकी हुकूमतको मानती मानती इतनी आत्मविस्मृत हो गयी है कि वह यह भी नहीं जानती कि नागरिकता किस चिड़ियाका नाम है। वह तो निरंकुश शासकका हुक्म, चाहे वह न्याययुक्त हो या अन्याययुक्त हो, मानना जानती है। वहांके शासनमें प्रजा चू भी नहीं कर सकती। वह केवल निरंकुश शासकोंकी भोग्य वस्तु समझी जाती है। कहनेका मतलब यह है कि अभी हमलोग प्रजाहीके रूपमें हैं, नागरिकके रूपमें नहीं। अस्तु।

प्रायः यह सवाल उठा करता है कि किसी समुदायको राज्यके रूपमें पहचाने जानेके लिये कमसे कम या ज्यादासे ज्यादा कितने लोगोंकी आवश्यकता होती है। संसारके इतिहासमें कभी ऐसी स्थिति नहीं आई जब सब राज्योंकी लोकसंख्या या भूमि समान हो गयी हो। प्रत्येक समयमें भिन्न २ राज्योंमे लोकसंख्या या भूमिविस्तारमें न्यूनाधिक रूपसे अवश्य ही अन्तर रहा है। किसी राज्यकी लोकसंख्या या भूमिविस्तार ज्यादा है तो किसीका कम है। किसी राज्यमें करोड़ों मनुष्योंकी बस्ती है तो किसीमें लाखों या हजारोंकी ही है। वहां भी ये राज्य कहलाते हैं। अतएव राजनीति-विज्ञानके आधुनिक लेखकोंने इस बातका कहीं भी निश्चय नहीं किया है कि इतनी २ लोकसंख्या या भूमिविस्तार होनेहीपर राज्य कहा जा सकता है।

हा राजनीति-शास्त्रके कुछ प्राचीन लेखकोंने मोटे तौरसे कुछ ऐसे तत्त्व निश्चित किये हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि राज्यके अस्तित्वके लिये इतनी लोकसंख्या और भूमिविस्तार आवश्यक है। प्राचीन कालके कुछ लेखकोंने तो इससे भी आगे पैर बढ़ाये हैं और उन्होंने एक तरहसे यह भी निश्चित कर दिया है कि राज्यमें कमसे कम या ज्यादासे ज्यादा अमुक २ लोकसंख्या और भूमिविस्तार निश्चितरूपसे होने चाहिये। प्राचीन समयके राजनीतिशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य्य एरिस्टाटलने भी लिखा है कि किसी राज्यके सुसङ्गठनके लिये यह आवश्यक

है कि उसमें लोकसंख्या और भूमिविस्तारकी कुछ हद होनी चाहिये। उसने कहा है कि लोकसंख्या न तो बहुत ज्यादा होनी चाहिये और न बहुत कम ही। वह इतनी होनी चाहिये, जिससे वह स्वत परिपूर्ण होकर अच्छी तरह शासित हो सके। सुप्रसिद्ध फ्रेन्च तत्त्ववेत्ता रूसो (Rousseau) ने राज्यके अस्तित्वके लिये लोकसंख्याकी कोई सीमा निर्द्धारित न कर यह कहा है कि राज्यके भूमिविस्तार और लोकसंख्यामें अमुक २ अनुपात (Proportion) होना चाहिये। अर्थात् इसके कहनेके अनुसार भूमिविस्तारके मानसे लोकसंख्या होनी चाहिये। एरिस्टाटलका कथन है कि राज्यकी माप (Measurement) दो बातोंसे की जा सकती है। एक उसके भूमिविस्तारसे और दूसरी उसकी लोकसंख्यासे। इन दो मापों (Measurements) के बीच जो सम्बन्ध है, उसीसे किसी राज्यकी वास्तविक इयत्ता (Dimention) जानी जा सकती है। भूमिविस्तार इतना होना चाहिये जिससे उसमें रहनेवाले लोगोंको खाने पीने और परवरिशके काफी साधन मिल सकें, और किसी भूमिपर इतने ही लोग बसने चाहिये जिनके लिये वह गुजारेके साधन पैदा कर सके। इससे आगे चलकर महामति एरिस्टाटलने इस बातपर बड़ी बहस की है कि राज्यकी लोकसंख्या जितनी अधिक होगी उसमें वैयक्तिक स्वाधीनता उतनी ही कम होगी। उसने उदाहरण देकर दिखलाया है कि अगर किसी राज्यमें दस हजार नागरिक बसते हैं

तो प्रत्येक नागरिकका राज्यसत्तामें $\frac{1}{10000}$ वा हिस्सा रहेगा और उसी राज्यमें एक लाख नागरिकोंकी बस्ती हुई तो वह अधिकार दस हजारके स्थानमें एक लाख हिस्सोंमें बट जायगा अर्थात् दसगुना अ तर पड जायगा। इन सब बातोंको सोच समझ कर एक राजनीतिज्ञने यह अनुमान निकाला है कि राज्य में लोकसख्या इतनी होनी चाहिये, जिसमेंसे शासनका काम करनेवाले तथा शासित किये जानेवाले और राज्य सङ्गठनमें सहायता पहु चानेवाले यथेष्ट सख्यामें निकल सकें। राज्यकी लोकसख्याके परिवर्तनसे उसके अस्तित्व (Corporate) पर विशेष प्रभाव नही पडता। लोकसख्याके बढ़नेके कारण या तो नैसर्गिक रहते हैं या विदेशियोंका आगमन और घटनेके कारण लोगोंका बडा तादादमें विदेश जाना या अन्य कारण रहते हैं। पर जबतक इस सख्यामें इतनी कमी नहीं होती, जिससे कि राज्य शकटका चलना असम्भव न हो जावे, तबतक राज्यका अस्तित्व बना रहता है।

भूमि या सीमा

भूमि-राज्यका एक आवश्यक अङ्ग है। सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित ब्लशले (महाशय) का कथन है कि जिस प्रकार राज्यका वैयक्तिक आधार (Personal basis) उसमें बसनेवाले लोगोंपर है वैसे ही उसका नैसर्गिक आधार उस भूमिपर है, जिसमें वे लोग रहते हैं, जो उस राज्यके सदस्य

जस्टिस वेस्टाप तथा जस्टिस वेस्टने भूमिअधिकारके प्रश्नपर खूब वादानुवाद करके हिन्दू-धर्मशास्त्रके आधारपर यह सिद्ध करनेका सफल प्रयत्न किया था कि हिन्दू-धर्मशास्त्रके अनुसार पहले प्रजाका ही भूमिपर अधिकार था।* प्रीवी कौन्सिलने भी जस्टिस महोदयोंकी इस बातका अनुमोदन किया था। मौंट स्टुअर्ट एलफिस्टनने भी अपने इतिहासमें इस बातको मुक्त कण्ठसे स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानके धर्मशास्त्रानुसार भूमिपर प्रजाहीका अधिकार समझा जाता था।

यह तो हुई धर्मशास्त्रकी बात। अब यह देखिये कि मुसलमानोंके धर्मशास्त्रमें इस विषयपर क्या विचार किया गया है। कुरानके व्याख्याकार "हिदाया"का मत है कि प्रजा ही जमीनका मालिक है। कर्नल ब्रान्सनेनेडी महाशयका कथन है कि प्राय सभी मुसलमान कानून-विशारदोंका भी यही मत था। सन् १६६८ में सम्राट औरङ्गजेबने एक घोषणापत्र निकालकर प्रजाका स्वामित्व स्वीकार किया था। सन् १७७५ में ईस्ट इण्डिया कंपनीने कलकत्तेकी कोठीके पास ३८ गावोंकी तालुकेदारी खरीदनेके लिये तत्कालीन बादशाहके पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था। इसपर बादशाहने उत्तर दिया था कि लोगोंसे खरीद लो, मेरा भूमिपर वैयक्तिक अधिकार नहीं है। मध्ययुगमें यूरोपमें, भूमि-

* Bombay High Court Reports Appendix Vol XII

दुर्भाग्य है कि इस वक्त हिन्दुस्तानमें भूमिके मालिक राज्य या राजा ही समझे जाते हैं।

का मालिक राज्य या राजा समझा जाता था, पर आजकल यूरोपमें, मध्ययुगकी तरह, भूमिका स्वामी राज्य या राजा नहीं माना जाता। अब वहा भूमि उसकी निजी और वैयक्तिक मिल्कियत नहीं समझी जाती।

इस वक्त पाश्चात्य ससारमें कोई राज्य या राजा मध्ययुगकी तरह भूमिको बेचकर गिरवी नही रख सकते, मानों वह उनकी निजकी जायदाद नहीं है। आधुनिक राज्य (Modern State) अपनी अधिकारकी भूमिका स्वामी प्रजाको समझते हैं अपनेको नहीं।

अगर किसी राज्यके देशपर या देशके किसी अंशपर दूसरे राज्यका अधिकार हो जावे तोभी आधुनिक सभ्य ससारके नियमोंके अनुसार भूमिपर उन्हीं व्यक्तियोंका अधिकार रहेगा, जिनका अधिकार पहले था।

राज्यसीमाका विस्तार

कितने ही लेखकोंका मत है कि राज्यकी सीमा जितनी ही विस्तृत और विशाल होगी उसके पास आत्मरक्षाके साधन उतने ही दृढ और उसका प्रभाव उतना ही विशाल होगा। पर इस विषयमें आधुनिक राजनीतिज्ञोंका बडा मतभेद है। वे कहते हैं कि यद्यपि यह बात कुछ अशोंमें सच है पर सर्वा'शमें नहीं। यदि ऐसा होता तो जारके समयका विशाल रूसी साम्राज्य ससारमें सबसे अधिक बलवान और पराक्रमी होता,; पर उसे जापान जैसे

या प्रजागण हैं। जबतक लोगोंका कोई समुदाय किसी निश्चित भूमिको नहीं प्राप्त करता, तबतक वह राज्यकी संस्थापना नहीं कर सकता। जिन लोगोंकी पृथ्वीपर कोई निश्चित भूमि नहीं है समझना चाहिये उनका कोई निश्चित राज्य भी नहीं है। संसार में अभी ऐसी कई अजनत जातियां हैं, जिनका कोई निश्चित वासस्थल नहीं है, और जो हमेशा इधर उधर घूमा करती हैं। राजनीतिक दृष्टिसे इनका कोई महत्त्व नहीं। लोगोंका कोई भी समुदाय तबतक राज्यके रूपमें नहीं पहचाना जा सकता जबतक कि वह किसी निश्चित भूमिपर अपना अधिकार न कर ले। राज्य-के अन्तर्गत कोई न कोई निश्चित भूमि अवश्य होनी चाहिये। लोग और भूमिके बिना राज्यका अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

राज्य भूमिमें अथवा राज्यसीमामें केवल जमीनहीका अन्तर्भाव नहीं होता। उसमें वे सब नदियां, तालाब, नहरें आदि आ जाती हैं, जो उस राज्यकी सरहदमें होती हैं। अगर इस भूमिसे लगा हुआ कोई समुद्र हो तो उसका तीन मीलतकका क्षेत्रफल भी उसमें समाविष्ट हो जाता है। समुद्रके अधिकार-के लिये राष्ट्रोंमें परस्पर क्या समझौता है, तथा इस महायुद्धके बाद उनमें किस प्रकार परिवर्तन हुए, इस विषयपर हम किसी अगले अध्यायमें स्वतन्त्ररूपसे लिखेंगे।

भूमिपर किसका अधिकार है ?

हमारे प्रचीन शास्त्रकारोंने स्पष्टरूपसे यह कहा है कि

राज्यका भूमिपर वैयक्तिक अधिकार नहीं। उसका उसपर केवल साधारण अधिकार है। महाभारतके पढ़नेसे मालूम होता है कि उस समय राज्यको यद्यपि जमीनका महसूल धान्यके रूपमें दिया जाता था, पर जमीनपर गांववालोंका ही स्वामित्व रहता था। गावोंकी सीमायें निश्चित रहती थीं और उन गावों-की सब उपजाऊ भूमिपर उन्हीं गावोंके लोगोंका अधिकार रहता था। जमीनके अलग २ टुकड़े किये हुए थे और उनपर अलग अलग लोगोंका अधिकार था। उस समय लोग अपने अपने स्वामित्वकी भूमिका क्रय विक्रय स्वतन्त्रतासे कर सकते थे। भूमिका उस वक्त भी मूल्य था। भूमिदान बड़ा पुण्यकारक समझा जाता था। समझदार मनुष्यके लिये यह आवश्यक माना जाता था कि वह भूमि खरीद कर दान करे। तस्मात्क्रीत्वा महीं दद्यात्स्वल्पामपि विचक्षणा (अनुशासन पर्व अ० ६७ श्लोक ३४)।

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता टाड महोदयने अपने प्रधान ग्रन्थ "राजस्थान" में मेवाड़का वर्णन करते हुए एक स्थानपर लिखा है कि वहा किसान ही भूमिके मालिक समझे जाते थे। वे भगवान मनुके "स्थाणुच्छेदस्य केदारम्" (अर्थात् जमीनका मालिक वही है, जो जंगल काटकर खेत तैयार करता है) के आधारपर किसानको जमीनका मालिक मानते थे। अब भी सारे राजपूतानेमें यह कहावत मशहूर है-भोगरा धनी राज हो, भोमरा धनी मा छा (अर्थात् राजा केवल करका अधिकारी है, भूमिके मालिक हम हैं)। सन् १८७५ में बंबई हाईकोर्टके चीफ

उतनी विस्तृत होनी चाहिये जिससे राज्यके मध्यवर्ती केन्द्रमें उस राज्यके अन्तर्गत दूर दूरके प्रदेशोंसे प्रतिनिधि सुभीतासे आवश्यकतानुसार जमा हो सकें। अगर राज्यका विस्तार इतना अधिक हुआ कि मध्यवर्ती केन्द्रमें उस राज्यके दूर दूर प्रदेशोंके लोग जमा न हो सकें तो इससे उस राज्यके शासनमें सबके सब लोगोंके प्रतिनिधि न आ सकेंगे और जनताका एक हिस्सा शासनमें योग्य हिस्सा लेनेसे वंचित रह जायगा। इसके विपरीत अलेकजेंडर हैमिल्टन महोदयका कथन है कि भूमिका विशाल विस्तार लोगोंकी नैसर्गिक शक्तिको बढ़ाना है और अल्प विस्तार अन्य प्रबल राष्ट्रोंको उस राज्यपर हमला करने तथा उसकी स्वाधीनता नष्ट करनेका मौका देना है। उनका कथन है कि जितना कम भूमिविस्तार होगा उतना ही कम उस राज्यके लोगोंको शत्रुके खिलाफ अधिक सुदृढ क्षेत्र बनानेका अवसर मिलेगा और जितना विशाल क्षेत्रफल होगा उतना ही उनको आत्मरक्षाके या शत्रुके विरोध करनेके अधिक साधन मिलेंगे। सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक ब्लशले (Bluntschli)ने इन सब विचारोंका परीक्षण कर लिया है कि राज्यकी शक्तिका अन्दाजा भूमिविस्तारसे नहीं लगाया जा सकता। फ्रांस और जर्मनीकी भूमिका क्षेत्रफल रूससे दस गुना कम है तोभी इन दोनों राष्ट्रोंकी शक्ति रूसकी अपेक्षा अधिक है। ग्रेटब्रिटनका यूरोपीय भूमि विस्तार जर्मनी और फ्रांससे कम है पर उसके अधीनस्थ राज्योंको एक तरफ रखकर भी प्रभाव और शक्तिमें ग्रेटब्रिटनकी इन दोनोंके

साथ मजेमें तुलना की जा सकती है। ग्रीककी सिटी स्टेट (City State) भूमिके विस्तारकी दृष्टिसे छोटी थी पर इतिहासमें ग्रीक राजधानी एथसका महत्व कम नहीं था। ब्लशलेके मतानुसार उस राज्यको, जिसका विस्तार विशाल है और भौगोलिक परस्थितिके कारण जिसके सब प्रदेश मिले हुए नहीं हैं, अपनी आत्मरक्षा करनेमें बडी कठिनाईका सामना करना पडता है। युद्धके समय अपने सब प्रदेशोंकी रक्षा करनेमें उसे बडी बडी दिक्कतोंका सामना करना पडता है।

कुछ पाश्चात्य लेखकोंका मत है कि सिटी स्टेट या अल्प विस्तारका देश सरकारके या शासनके किसी विशिष्ट रूपके लिये विशेष सुभीताजनक होता है। इसके विपरीत उस विशिष्ट रूपकी सरकारको उस राज्यका इंतजाम करना कठिन होता है जिसके प्रान्त, पर्वत, नदियां आदि भौगोलिक परिस्थितिके कारण एक दूसरेसे मिले हुए नहीं हैं तथा जिनके कुछ या अधिक प्रान्त राज्यके मध्यवर्ती केन्द्रसे बहुत जुदे और दूरपर हैं। इन विचारोंके लेखकोंके मतानुसार विशुद्ध प्रजातन्त्रको अल्प विस्तारवाले तथा जुडे हुए प्रान्तोंवाले राज्यमें अधिक सफलता होती है। मि० जैलिनैक नामक लेखक कहता है, 'रिपब्लिकन सरकार अल्प विस्तारवाले राज्योंके लिये अधिक सुविधादायक होती है और विशाल विस्तारवाले राज्योंके लिये राजतन्त्र (Monarchy) अधिक सुविधादायक होता है। हां, हालमें कुछ विशाल भूमिवाले प्रजातन्त्र राज्योंने अपने प्रत्यक्ष उदाहरण-

क्षुद्र क्षेत्रफलके राज्यसे हार खानी पडी। जर्मन सेनाओंने रूसी सेनाओंको बुरी तरह पछाडा। चीन साम्राज्यकी भूमि अत्यत विस्तृत होनेपर भी वह दुनियामें महा निर्बल राष्ट्र गिना जाता है। इन्हीं सब उदाहरणोंको सामने रखकर कितने ही राजनीतिज्ञ केवल भूमिके अधिक विस्तारको महत्व नहीं देते। हा, भूमि-विस्तारके साथ २ योग्य सगठन, जातीय एकता, भौगोलिक परिस्थितिकी श्रेष्ठता और अन्य कितने ही साधनोंको राज्यकी महत्ताके लिये आवश्यक समझते हैं।

अब यह देखना है कि राज्यके अस्तित्वके लिये कितने भूमि-विस्तारकी आवश्यकता है। आधुनिक राजनीतिज्ञोंके मतानुसार जिस प्रकार इस बातका नियम नहीं है कि अमुक राज्यमें इतनी इतनी लोकसख्या होनी ही चाहिये वैसे ही इस बातका भी नियम नहीं है कि अमुक अमुक राज्यमें अमुक अमुक विस्तारकी भूमि होनी चाहिये। क्या प्राचीन कालमें और क्या आधुनिक कालमें भिन्न भिन्न राज्योंमें भिन्न भिन्न लोकसख्या और भूमि-विस्तार रहते आये हैं। जहा बीस करोड मनुष्यसख्या तथा सुविशाल भूमिक्षेत्र रखनेवाला रूस जिस प्रकार राज्य कहलाता है, वैसे ही थोडी सी लोकसख्या और भूमि रखनेवाला जापान भी राज्य कहलाता है। अमुक अमुक परिमाणमें लोकसख्या या भूमि होने हीसे राज्य बनता है यह नियम नहीं है। हा आजकलके राजनीतिज्ञ इस बातकी तो आवश्यकता समझते हैं कि भूमिकी भौगोलिक एकताका खयालकर राज्योंका संगठन होना चाहिये अर्थात् उनके

विचारानुसार जलवायु और नैसर्गिक परिस्थितिकी समानताका इस विषयमें जरूर ख्याल रक्खा जाना चाहिये। इसके साथ साथ राष्ट्रीयताकी ओर भी नजर रखनी चाहिये। इन तत्वोंको ध्यानमें रखकर जब राज्योंका नये ढंगसे संगठन किया जायगा तभी संसारमें इन पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार स्थायी शांति हो सकेगी।

यद्यपि प्राचीन और आधुनिक कालके राजनीतिज्ञोंने इस बातके नियम नहीं बनाये हैं कि राज्यके अस्तित्वके लिये अमुक अमुक परिमाणकी लोकसंख्या या अमुक अमुक विस्तारकी भूमि होनी चाहिये पर रूसो या कौटिल्य प्रभृति कितने ही राजनीतिके आचार्यों ने यह सिद्धांत अवश्य स्थिर किया है कि राज्यकी भूमि इतनी विस्तृत होनी चाहिये कि उसमें उस राज्यके लोग आसानीसे बस सकें और उसमें अपने उदरनिर्वाह या आवश्यक आरामके साधन प्राप्त कर सकें। वह इतनी विस्तृत भी नहीं होनी चाहिये जिसपर शासन करना असम्भव हो और इतनी संकुचित भी नहीं कि वहांके निवासी अपनी रक्षा आप न कर सकें। रूसोने लिखा है कि बहुत दूरके प्रदेशोंमें शासन करना कठिन हो जाता है। शासनके सुभीताके लिये और लोगोंके हितके लिये किसी राज्यमें जरूरतसे ज्यादा विस्तारकी भूमि आवश्यक नहीं। कुछ पाश्चात्य लेखकोंने इस विषयपर विचार करते हुए राज्यतन्त्र और प्रजातन्त्र राज्योंपर विचार किया है। मेडिसन नामक एक सुप्रख्यात राजनीतिविशारदका कथन है कि प्रजातन्त्रकी नैसर्गिक सीमा

भौगोलिक परिस्थितिका देशके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवनपर कुछ न कुछ अवश्य प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीसमें छोटे छोटे राज्योंका अस्तित्व था। ये राज्य पर्वतोंकी श्रेणियोंसे, समुद्रसे एक दूसरेसे अलग हो गये थे। इन्हें मिलानेका बहुत प्रयत्न किया गया पर इसमें असफलता हुई। इससे यह सिद्ध होता है कि भौगोलिक विभेद राष्ट्रीय एकतामें बाधा पहुंचाता है।

राज्यका दैवी मूल

राजा देवताका अंश है, यह कल्पना संसारमें अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आ रही है। वेदोंमें, स्मृतियोंमें तथा पुराणोंमें कई जगह ऐसे उल्लेख आये हैं जिनमें धर्मात्मा, प्रजाप्रिय, जितेन्द्रिय और शक्तिशाली राजाको देवताका अंश बतलाया है। महाराज मनुने लिखा है, जब प्राणीगण राजाके अभावमें डरके मारे इधर उधर भागे और बिखरने लगे तब ईश्वरने संसारकी रक्षाके लिये राजाको उत्पन्न किया। मध्ययुगके एक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखकने लिखा है, "ईश्वरने भूमण्डलपर रहे हुए कुछ शक्तिशाली विभूतियोंपर प्रकाश डाला और प्रेरणा द्वारा संसारको उनका हुक्म माननेमें धर्म बतलाया।" सेंट पालने रोमन लोगोंको सम्बोधन कर आदेश किया था, "हर एक आत्मा उच्च शक्तियोंकी आधीनता स्वीकार करे, ईश्वरके सिवा कोई शक्ति नहीं है। अगर सृष्टिकी किसी विभूतिमें शक्ति दिखलायी पड़ती है, तो

वह ईश्वरकी ही है। महाभारतमें कहा है कि "राजाको साधारण मनुष्य समझकर कोई उसका अपमान न करे क्योंकि राजा इस भूमण्डलपर मनुष्यके रूपमें देवता है। राजा जब लोगोंको शिक्षा करता है तब वह महेन्द्र रूपमें रहता है, जब वह पापी लोगोंको दण्ड देता है तब वह यमरूपमें रहता है, जब वह पृथ्वीपर भ्रमणकर राष्ट्रका निरीक्षण करता है, तब वह सूर्य स्वरूप हो जाता है, अपकारी लोगोंका द्रव्य हरणकर जब वह दूसरोंको सम्पत्ति देता है तब वह कुबेरके रूपका हो जाता है। राजाको कभी दोष देनेके लिये तैयार नहीं होना चाहिये। मनुष्यको राज्यद्रव्यका कभी अपहरण नहीं करना चाहिये। जो ऐसा करेगा उसकी इस लोक और परलोकमें निन्दा होगी। मतलब यह कि पाश्चात्य शास्त्रोंकी तरह हिन्दू शास्त्रोंमें भी कई जगह राजाको देवताका अंश माना है। हां, हिन्दू–शास्त्रोंमें उसी राजाको देवताका अंश माना है जो संयमशील, विद्वान, प्रजाप्रिय और शक्तिशाली होकर विविध दैवी गुणोंसे विभूषित हो। हिन्दू-शास्त्रोंमें ऐसे दिव्य गुणोंसे युक्त राजाको विष्णुका अवतार तक कहा है।

प्राचीन कालके यूरोपकी तरह मध्यकालीन यूरोपमें भी यह भावना अधिक जोर पकड़े हुए थी कि राजा देवताका अंश है। मध्ययुगमें ईसाई धर्मके जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें कई जगह लिखा है कि राजा ईश्वर द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि है। सन् १५३० में आगसधर्मके एक घोषणापत्रमें कहा गया था कि "स्वयं ईश्वर-

से इस धारणाको बड़ा सन्देहास्पद कर दिया है। जान स्टुअर्ट मिलका कथन है, "राज्यका विस्तार इतना नियमित होना चाहिये जिसपर कि अच्छी तरह शासन किया जा सके और एक मध्यवर्ती केन्द्रके द्वारा जिसका शासन हो सके।" आगे चलकर मिल फिर कहते हैं, "ऐसे बहुतसे देश हैं जिनका विस्तार बहुत विशाल है और जिनके दूरवर्ती बहुतसे प्रान्त मध्यवर्ती केन्द्रसे अच्छी तरह शासित नहीं किये जाते हैं।" इन्हीं सब बातोंको सामने रखकर सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता मिल महोदय राज्यकी सीमाकी अत्यधिक विशालताके बदले समुचित नियमितताको अधिक पसन्द करते हैं।

भूमिविस्तारकी राक्षसी आकांक्षा

इस तत्त्वको ठीक समझते हुए भी कई आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र अपनी बढ़ती हुई जनताके लिये उसके जीवनकी विशेष सुभीताओं और आरामके लिये, उनकी व्यापार वृद्धिके लिये, नये नये मुल्कोंपर अधिकारकर अपने राज्यको सुविशाल बनाना ठीक समझते हैं। एशिया अफ्रीका आदि देशोंका अधिकांश भाग इसी तरह यूरोपके राष्ट्रोंने बांट लिया। वहाँके मूलनिवासियोंको कुचलकर ये उस भूमिके स्वामी बन बैठे। अपने राष्ट्रके फायदेके लिये, अपने राष्ट्रके लोगोंके आराम और सुभीताके लिये अन्य राष्ट्रोंको कुचलकर उनपर अधिकार जमा लेना और उस राष्ट्रके मूलनिवासियोंके नैसर्गिक स्वत्वों-

का नाश कर देना, इस प्रकारकी कुटिलता यूरोपकी आधुनिक राजनीतिमें घुसी हुई है। पर इस महायुद्धके बाद संसारमें जो नयी लहर बह चली है उसने संसारभरको इनकी नीच कुटिलताका सन्देशा पहुंचाया है और आशा है भविष्यमें इनकी इस कुटिलताका बुरी तरहसे अन्त होगा, अस्तु।

भौगोलिक स्थिति और राष्ट्रीय जीवन

किसी राज्यकी भौगोलिक स्थितिका, उसकी सीमाके रूप और आकृतिका, उसके विस्तारका उनके राष्ट्रीय जीवन और संस्थाओंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्लेटो, एरिस्टाटल, मैके व्हेली, वाडिन, काम्प्ट (Compte), ह्यूम आदि प्राचीन कालके कितने ही पाश्चात्य विद्वानोंने किसी राष्ट्रके चरित्र और राष्ट्रीय जीवनपर उसकी नैसर्गिक परिस्थितिका जो प्रभाव पड़ता है उसको बहुत महत्व दिया है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक वर्कलेने यहांतक कह डाला है कि किसी राष्ट्रकी भूमि, जलवायु और अन्नका उस राष्ट्रके औद्योगिक, बौद्धिक और राजनैतिक विकास पर बड़ा आश्चर्यकारक प्रभाव पड़ता है। मांण्टेस्क नामक एक तत्ववेत्ताने तो देशके जलवायुजनित प्रभावों और कानूनमें तथा भूमिके उपजाऊपन और सरकारके रूपमें बड़ा भारी सम्बन्ध स्थिर करनेका प्रयत्न किया है। पर इसका मत राजनीतिज्ञोंको मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि इसमें अतिशयोक्तिकी विशेष मात्रा है। ५

गया । अब पाश्चात्य संसारके लोग क्षणभरके लिये भी यह बात माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि राजा देवताका अंश या ईश्वरका प्रतिनिधि है ।

राज्य स्वतः अन्तिम ध्येय है

या

उसका साधन ?

राज्यके उद्देश्य बड़े ही पवित्र और दिव्य होने चाहिये, क्योंकि जनताका हिताहित बहुत कुछ राज्यपर निर्भर करता है । "यथा राजा तथा प्रजा" की कहावत मशहूर ही है । हमारे हिन्दू शास्त्रकारोंने तो राज्यके उद्देश्य बहुत ही व्यापक और विस्तृत कर दिये हैं । उन्होंने स्पष्टतया कहा है कि राज्य केवल प्रजाकी इहलौकिक उन्नतिहीके लिये जिम्मेदार नहीं है, पर पारलौकिक उन्नतिके लिये भी जिम्मेदार है । महाराजा अशोकने समय समयपर जो आज्ञाएं प्रकट की थीं उनसे हमारे कथनकी पुष्टि होती है । हिन्दू शास्त्रकारोंने राज्यके जो उद्देश्य और लक्ष्य बतलाये हैं, उनपर हम किसी स्वतन्त्र अध्यायमें विचार करेंगे । सम्प्रति हम पाश्चात्य दृष्टिहीसे इस विषयपर दो शब्द लिखना चाहते हैं ।

प्राचीन ग्रीक लोगोंका राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त यही सूचित करता है कि ग्रीक लोग राज्यको मानवी जीवनका सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य समझते थे । वे राज्यको अन्तिम आदर्शपर पहुंचनेका

केवल साधन ही नही वरन् स्वत राज्यहीको अन्तिम आदर्श मानते थे (They regarded the State an end in itself)। व्यक्तियोंको वे राज्यके अशमात्र मानते थे। व्यक्तियोंके स्वतन्त्र अस्तित्वको वे विशेष महत्व नहीं देते थे। वे मानते थे कि जिस प्रकार शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंका काम सारे शरीरकी सेवा करना रहता है, वैसे ही व्यक्तियोंका काम उनके राज्यरूपी शरीरकी सेवा करना है, अर्थात् व्यक्तियोंको अपना भिन्न अस्तित्व राज्यके अस्तित्वमें विलीन कर देना चाहिये। प्राचीन ग्रीसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता (Individual freedom) राष्ट्रीय स्वाधीनताका अशमात्र मानी जाती थी। वहा उस वक्त राष्ट्रीय हितके खिलाफ व्यक्तिगतहित या स्वाधीनताका कोई सवाल उठता, तो उसका समर्थन या तो होता ही न था, अगर कहीं कुछ हो गया तो बहुत ही कम।

आधुनिक पाश्चात्य लेखक अधिकांशमें ग्रीक लोगोंके उक्त सिद्धान्तके खिलाफ हैं। हम यह नहीं कहते कि सबके सब ही खिलाफ हैं। हमारे कहनेका मतलब यह है कि अधिकांश पाश्चात्य लेखक अब इस सिद्धान्तके खिलाफ होते जा रहे हैं कि व्यक्तिगत हितकी बलि सम्पूर्ण रूपसे राष्ट्रीय हितके यज्ञमें कर दी जावे। आधुनिक लेखक राज्यको आदर्शपर पहुचनेका केवल साधन मानते हैं, वे राज्यहीको आदर्श या अन्तिम लक्ष्य नहीं मानते। बहुतसे लेखक इसी बातका प्रतिपादन करते हैं कि मनुष्यके हित या विकासके लिये राज्य एक साधन है। लार्ड

ने सर्वसत्ता, कानून, सरकार और व्यवस्थाको उत्पन्न किया है।" अठारहवीं सदीतक यूरोपमें यह भावना थी कि राज्य ईश्वरीय सत्ता है और राजा दैवी स्वत्वसे राज्य करते हैं। इस सिद्धात या भावनाका जोर फ्रान्समें अधिक था। फ्रान्समें तो राजा लोग इस बातका दावा करते थे कि हमें ईश्वरसे यह महान सत्ता प्राप्त हुई है।

सन् १८१५ में रूस, आस्ट्रिया और प्रशियाके सम्राटोंके बीच जो साधु मैत्री हुई उसमें उन्होंने साफ तौरसे प्रकट किया था कि हमें अपने राज्यके लोगोंपर शासन करनेके लिये ईश्वरने प्रतिनिधि रूपमें भेजा है। इसी प्रकारकी भावनायें उस समय यूरोपके कई सम्राटोंकी थीं। अधिकाश लोग भी ऐसा ही समझते थे।

इस बीसवीं सदीमें भी इस कल्पनाका समूल नाश नहीं हुआ था। जर्मन सम्राट् कैसरने कई बार यह बात दावेके साथ कही थी कि हम ईश्वरीय सत्तासे शासन करते हैं। रूसके ज़ार और आस्ट्रियाके सम्राटके भी ऐसे ही विचार थे।

कई बडे २ राजनीतिक दार्शनिकोंने (Political Philosophers) ने भी बडे जोरके साथ राजाके दैवी अधिकारका पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है। सत्रहवीं सदीका सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'बोसेट' (Bossuet) ने अपने 'Politics as derived from Scriptures' में लिखा है, "ईश्वरने राजाओंको अपने सचिवोंकी हैसियतसे नियुक्त किया है। ईश्वर इनके द्वारा लोगोंपर उसी प्रकार शासन करता है, जैसे पिता बच्चोंपर करते हैं।"

इंग्लैण्डके राजा जेम्सने सिंहासनासीन होनेके पहले अपने 'The true Law of a Free Monarchy' में अपना मनस्वी सिद्धान्त प्रकट किया था कि "राजा ईश्वरीय अधिकारसे राज्य करते हैं। प्रजाको उनके खिलाफ चूं करनेतकका अधिकार नहीं। इसने अपने इस वक्तव्यको ईसाई धर्मशास्त्रोंसे और प्रकृति के नियमोंसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उसने बड़े जोरसे यह लिखा है कि जिस प्रकार ईश्वरके खिलाफ उसके कार्योंके लिये खड़ा होना पाप और मूर्खता है, वैसे ही राजाके खिलाफ भी खड़ा होना पाप और मूर्खता है, क्योंकि राजा ईश्वरहीका प्रतिनिधि और प्रतिबिम्ब है।

यद्यपि ग्राटियस (Grotius), हाब्स (Hobbes) और लाक (Locke)प्रभृति पाश्चात्य विद्वानोंने राजाके दैवी अधिकार सिद्धान्तपर जोरका कुठाराघात किया था, पर इनके बाद भी यह कल्पना कुछ अशमें विद्यमान थी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदीमें इस कल्पनापर जोरका कुठाराघात होता रहा। लोग समझने लगे कि यह सारा मायाजाल अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये रचा गया है। यह सब बनावटी बातें हैं। इस महायुद्धने तो यूरोपमें इस कल्पनाका मानों समूल नाश कर दिया। रूसके जार जो अपने आपको सर्वसत्ताधारी और ईश्वरके खास प्रतिनिधि समझते थे, राज्यच्युत कर मार डाले गये। जर्मन सम्राट कैसर हालैण्डमें अधिकारच्युत होकर पड़े हैं। आस्ट्रियाके सम्राटका पता भी नहीं है। अब एकतन्त्रीय शासनका जमाना

मेकालेने कहा है, "प्राचीन राजनीतिज्ञोंका प्रधान दोष यह है कि वे यह नहीं मानते कि राज्य और कानूनका अस्तित्व व्यक्तियोंकी सुख समृद्धिके विकासके लिये है। सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक ब्लन्शलेका कथन है, "आधुनिक राजनीतिज्ञ राज्यको एक ऐसी संस्था या यन्त्र मानते हैं, जो कि प्रत्येक व्यक्तिकी जान, माल और व्यक्तिगत स्वाधीनताकी रक्षाका जिम्मा लेता है।" दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि उनके मतानुसार राज्य एक ऐसी कृत्रिम सृष्टि है जिसका दावा लोगोंकी या अधिकांश लोगोंकी सुख-समृद्धिकी वृद्धिके लिये बनाया गया है। बेकनके समयसे इस सिद्धान्तकी कई लेखकों द्वारा पुष्टि होती आ रही है। जो लोग राज्यको केवल लोगोंका समुदाय समझते हैं वे इस सिद्धान्तको किसी न किसी तरह मानते ही हैं। मेरी रायमें आधुनिक और पुराने दोनों विचारोंमें सत्यका कुछ न कुछ अंश है। पर इसके साथ ही साथ यह भी कहना पड़ेगा कि दोनोंने एकतरफा विचार करनेकी गलती की है, जहां एक दृष्टिसे राज्य अन्तिम लक्ष्य माना जा सकता है, वहां दूसरी दृष्टिसे वह अन्तिम लक्ष्यपर पहुंचनेका साधनमात्र भी माना जा सकता है। इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये हम यहां एक दो उदाहरण देते हैं। मान लीजिये एक चित्रकार है जिसकी जीविका चित्र निकालनेसे चलती है और एक दूसरा आदमी है जो इन चित्रोंको खींचकर आर्थिक लाभ उठाता है। यहां यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि किसी न

किसी रूपमें दोनों ही उन चित्रोंसे आर्थिक लाभ उठाते हैं। प
पहला मनुष्य जो कि चित्रकार है, चित्रको किस निगाहसे देखता है? वह तो यह देखता है कि चित्रमें मेरे आदर्शों के, मेरे मनोगत विचारोंके भाव ठीक ठीक उतरे हैं या नहीं। वह अपने लाभके विचारको इन ऊंची भावनाओंमें भुला देता है। उसके लिये चित्र खुद आदर्श हो जाता है, और दूसरा मनुष्य केवल उसे धन कमानेका साधनमात्र समझता है। मतलब यह कि जहां पहले मनुष्यके लिये अर्थात् चित्रकारके लिये स्वत चित्र ही आदर्श है, वहां दूसरे मनुष्यके लिये वह लाभप्राप्तिका केवल साधनमात्र है। अब दूसरा उदाहरण लीजिये। विवाह पतिपत्नीकी व्यक्तिगत आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन है, यह दोनोंके लिये सुखी जीवनका मार्ग खोल देता है। यह तो हुई एक दृष्टिकी बात, अब दूसरी दृष्टिसे विचार कीजिये। विवाह स्त्री-पुरुषका संयोग है। इसी सयोगपर कुटुम्बकी नींव पडती है। कुटुम्ब क्या है? एक खानदानके लोगोंका सामुदायिक सघ है जिसके लिये उसके सदस्यरूप प्रत्येक व्यक्तिको अपने बहुत कुछ वैयक्तिक स्वार्थ और हितकी बलि देनी पडती है। मतलब यह कि विवाह और कुटुम्बका जो उच्च ध्येय है, उसमें व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वार्थको लीन कर देनेके लिये तैयार हो जाता है।

यही बात राज्यके लिये भी लागू हो सकती है। एक दृष्टिसे वह उन लोगोंके लाभका एक साधन है जो उस राज्यके सदस्य हैं और दूसरी दृष्टिसे राज्य स्वत ही अन्तिम आदर्श है जिसकी

सेवा करनेके लिये व्यक्ति उसी प्रकारसे बाध्य हैं जैसे सारे शरीरकी सेवा करनेके लिये शरीरके अवयवरूप व्यक्ति बाध्य हैं।

१ राज्यके आदर्श

अबतक हमने राज्य स्वत अन्तिम लक्ष्य है, या वह लक्ष्यपर पहुचानेका साधनमात्र है, इस विषयपर विचार किया है। हमने प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियोंसे इस विषयपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है। अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि राज्यके ध्येय क्या हैं या क्या होने चाहिये। सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक हाल्ज़ेनडार्फ (Holtzendorff) अपने "Principier-der-Politik" ग्रन्थमें राज्यके ध्येयोंको दो भागोंमें विभक्त करता है। वे ये हैं (१) राज्यके वास्तविक ध्येय (Real ends और (२) राज्यके आदर्श ध्येय (Ideal ends)। उसके कथनानुसार राज्यके वास्तविक ध्येय ये हैं कि राज्य अपनी राष्ट्रीय शक्तिको बढावे, वैयक्तिक स्वाधीनताकी रक्षा करे, सामाजिक सुधार एव मानवी सभ्यताका विकास करे अर्थात् हाल्ज़ेनडार्फके मतानुसार राष्ट्रीय शक्ति, वैयक्तिक स्वाधीनता और मनुष्य-जातिकी सभ्यताकी अभिवृद्धि ही राज्यका वास्तविक ध्येय है। वनमोहल (Von-Mohal) नामक एक सुप्रख्यात जर्मन लेखकके मतानुसार राज्यका ध्येय यह है कि वह लोगोंकी उच्चतम शक्तियोंका विकास करे। बर्गेस ,नामक एक दूसरा राजनीतिका सुप्रसिद्ध लेखक राज्यके उद्देश या ध्येयोंको तीन भागोंमें विभाजित करता है। (१ प्रारम्भिक ध्येय (२) माध्य-



मिक ध्येय (३) अन्तिम ध्येय। सबसे पहले उसने अन्तिम ध्येयपर विचार किया है। उसका कथन है कि मनुष्य-जातिकी पूर्णता (Perfection of humanity), संसारकी सभ्यताका विकास और इस भूमण्डलपर धर्म (Virtue) और नीति (Morality) के साम्राज्यको स्थापना ही राज्यके अन्तिम ध्येय होने चाहिये। राष्ट्रीयताके तत्त्वकी पूर्णता और राष्ट्रीय प्रतिमा (National genius) तथा राष्ट्रीय जीवनका विकास राज्यका माध्यमिक ध्येय होना चाहिये। व्यवस्था और स्वाधीनताकी स्थापना उसका पहला ध्येय होना चाहिये। बर्गेस महोदय कहते हैं कि इनकी सिद्धिके लिये सबसे पहले ऐसी 'सरकार और स्वाधीनताका इस प्रकार सङ्गठन किया जाना चाहिये जो यथासम्भव व्यक्तिकी सर्वोच्च स्वाधीनताके अनुकूल हो। दूसरी बात यह कि भिन्न २ राष्ट्रोंकी प्रतिमाका विकास किया जावे और उसे पूर्णतापर पहुँचानेका प्रयत्न किया जावे। राजनीतिके प्रसिद्ध आचार्य लाक महोदयका कथन है, राज्यका उद्देश या ध्येय मनुष्य-जातिकी भलाई करना है। प्रोफेसर रिची (Ritchi) महोदय मनुष्यजातिके सर्वोत्कृष्ट जीवनके आविष्करणको राज्य का प्रधान उद्देश समझते हैं। एक आधुनिक फ्रेञ्च विद्वान्‌का कथन है, "सबसे पहले राज्यका यह कर्त्तव्य है कि वह बाहरी शत्रुओं से राष्ट्रीय स्वाधीनताकी रक्षा करे, भीतर सुख शांति और सुव्यवस्था रखे। इसके पश्चात् राष्ट्रीय जीवनके विकास करनेका प्रयत्न करे अर्थात् राष्ट्रकी प्रगति करे"। लेबले (Laboulaye)

नामक एक दूसरे फ्रेञ्च राजनीतिज्ञका मत है, "राज्यका कर्त्तव्य यह है कि वह प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसके पूर्ण विकासका मार्ग खोल दे, वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे मनुष्यकी शारीरिक बौद्धिक और नैतिक शक्तिका पूर्ण विकास हो, विकासके मार्गमें आनेवाली बाधाओंको वह हटा दे, गरीबसे गरीब और अज्ञानीसे अज्ञानी मनुष्यके द्वारपर ज्ञान और शिक्षाका प्रकाशकर सर्वसाधारणको उन्नतिके पथपर आगे बढ़ावे।' अमेरिकाके विख्यात लेखक गार्नर महोदय इन सब बातोंका विश्लेषणकर यह सार निकालते हैं, "राज्यका वास्तविक, प्रारम्भिक और तत्कालिक ध्येय यह है कि वह शांति, व्यवस्था, हिफाजत और न्यायकी व्यवस्था करे। इसमें कानूनका राज्य स्थापित करनेकी बात भी आ गयी है, जिससे वैयक्तिक स्वत्वोंकी रक्षा की जा सके, कोई मनुष्य, कोई समाज, या कोई सरकार दूसरेकी वैयक्तिक स्वाधीनतामें बाधा न डाल सके। यदि राज्य इन उद्देशोंको, इन ध्येयोंको, पूर्ण करनेमें असफल होता है, तो समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व न्याययुक्त नहीं है। वह अन्य बातोंकी कुछ अंशोंमें उपेक्षा कर सकता है पर इन अत्यन्त आवश्यक बातोंकी नहीं कर सकता। राज्यको वैयक्तिक तथा सामाजिक हित और आवश्यकताओंपर अवश्य नजर रखना चाहिये। उसे ऐसे कार्य करने चाहिये जो लोगोंके हितके लिये आवश्यक हों।

इन सब प्रारम्भिक और मूल कर्तव्योंके सिवा राज्यका अन्तिम कर्तव्य और सर्वोत्तम ध्येय मनुष्य-जातिकी सभ्यता और

संस्कृतिका विकास करना है। प्रात.स्मरणीय श्री अरविंद घोषने अपने एक व्याख्यानमें कहा था, "भारतीय स्वराज्यका आदर्श महान, पवित्र और दिव्य है। वह अपनी क्षुद्र आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये, अपने हीनतम स्वार्थोंकी सिद्धिके लिये अपना राज्य स्थापित करना नहीं चाहता। उसके सामने महान आदर्श है। वह अपने साथ सारी मनुष्यजातिको उठाना चाहता है। वह सारी मनुष्यजातिके सामने अपना दिव्य आध्यात्मिक संदेशा रखना चाहता है। वह मनुष्य जातिमें बहे हुए उस अलौकिक तत्त्वका आविष्करणकर संसारमें अपूर्व सुख और दिव्यताका प्रका- फैलाना चाहता है। भारतीय-स्वराज्यके सामने यही दिव्य उद्दे होने चाहिये।" कविवर रवीन्द्रनाथने भी इसी प्रकारके दि विचार प्रकट किये हैं।

२ विश्वव्यापी राज्य।

जिन लोगोंने मानव-प्रकृतिका अन्वेषणापूर्वक पर्य्यवेक्षण किया है, वे जानते हैं कि, उसकी स्वाभाविक प्रकृति एकताकी ओर रहती है, सृष्टिमें जो अनेक विभिन्नतायें तथा विविधतायें दीखती हैं, उनमें वह एकताका दर्शन करनेके लिये स्वभावहीसे प्रवृत्त होती है, संसारमें अनेक विविधताओंसे घिरी रहनेपर भी वह अपना आदर्श "एकता" रखती है, संसारमें अनेक प्रकारके मत मतान्तर हैं, पर सब अन्तमें एक ही लक्ष्यपर आकर स्थित हो जाते हैं, विभिन्नतासे निकलकर एकताकी ओर पहुंचनेके लिये सारा संसार प्रयत्न करता है, विज्ञान भी इसी बातकी

खोज करता है कि प्रकृतिके भिन्न भिन्न नियमोंमें एकताका एक सर्वसामान्य तत्त्व निकाला जावे, और इसमें उसे कुछ सफलता भी हुई है। जितने दार्शनिक,जितने विज्ञानी तथा जितने उच्च कवि हैं, सब ही "एकता" की ओर दौड़ते हैं। यह प्रवृत्ति आजसे नहीं, सृष्टिके आरम्भकालसे चली आ रही है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"का तत्त्व इसी एकताका द्योतक है, विज्ञान बड़े परिश्रमके बाद अन्तमें एक तत्व इलेक्ट्रनकी ओर पहुचा है, ससारमें जितने धर्म हैं, सब ही एक सर्वसामान्य, सर्वव्यापी तत्त्वकी खोज कर रहे हैं। बात यह है कि मनुष्यकी प्रकृतिको तबतक असली शान्ति नहीं मिलती जबतक कि वह एकताके दर्शन नहीं करती। बड़े २ दार्शनिकोंने लिखा है कि शान्ति एकतामें है।

देखते हैं कि राजनीतिक ससारमें भी हजारों वर्षों से इस एकताके स्थापित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। ससारके कई भूतकालीन महानुभावोंने इसे स्थापित करनेका प्रयत्न किया था, और अब भी कई महानुभाव ससारकी स्थायी शान्तिके लिये मनुष्य-जातिकी भयङ्कर युद्धों और खूनखराबीसे रक्षा करनेके लिये राजनीतिक एकताकी अत्यन्त आवश्यकता समझते हैं। ससारमें इस वक्त जिस अपूर्व मानसिक क्रान्तिकी तैयारी हो रही है वह इसी एकताके स्थापित करनेके हेतु हो रही है। इस वक्त ससारके बड़े २ प्रतिभाशाली मस्तिष्क इसी संसार-व्यापी राजनीतिक एकताको चिरस्थायीरूपसे प्रस्थापित करनेके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्यायमें जिस विषयकी चर्चा की

जायगी, वह इस राजनीतिक एकताका महासाधन होगा। वह विषय है :—

सार्वभौमिक राज्य।

सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक एरिस्टाटलका कथन है कि मनुष्य स्वभावहीसे राजनीतिक प्राणी (Political animal) है, वह किसी राष्ट्रीय विभिन्नता अथवा विशेषताके कारण राज्य नहीं चाहता। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी है कि बिना राज्यके उसका काम ही नहीं चल सकता। मनुष्य-समाजके लिये राज्यका अस्तित्व आवश्यक है। कई उदार राजनीतिके दार्शनिकोंका कथन है कि क्या सृष्टिके भिन्न २ राज्योंमें एकताका सर्व-सामान्य सूत्र ग्रथित नहीं किया जा सकता। मनुष्य-जाति उसके समष्टिरूपमें एकतामय है। वह किसी न किसी प्रकारकी सर्व-सामान्य भावनासे प्रेरित होती है। ऐसी दशामें क्या सारी मनुष्य-जातिके लिये एक सर्व-सामान्य राज्यका आदर्श असङ्गत है ?

इसमें शक नहीं कि इस वक्त संसारमें कई ऐसे राज्य हैं, जो राष्ट्रीय हैं, जो अपने राष्ट्रमें एकता रखनेका यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, पर राजनीतिके उदार दार्शनिकोंको इनसे संतोष नहीं होता। वे समझते हैं कि राज्यकी सर्वोत्तम और सर्वोच्च कल्पनाकी सिद्धि इन राज्योंसे नहीं होती। उनके विचारानुसार एक सार्वभौमिक राज्य ऐसा होना चाहिये जो अखिल मनुष्य-जातिका दृश्य शरीर हो। इन महानुभावोंके विचारानुसार सार्व-भौमिक राज्यही मानवी प्रगतिका आदर्श है।

इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि पूर्वकाल तथा मध्य-कालमें भी सार्वभौमिक राज्य स्थापित करनेके असफल प्रयत्न हो चुके हैं। इनमें किसीको सफलता नहीं हुई। पर इससे यह न मान लेना चाहिये कि आगे भी सफलता न होगी। संसार विकास-मय है, मनुष्य-जातिके दिव्यगुणोंका ज्यों ज्यों विकास होता जायगा त्यों त्यों इस महान राजनीतिक आदर्शकी सफलता में विशेष सहायता मिलती जायगी। इसके लिये पहले जो प्रयत्न हुए, वे सब बाहरी थे, इससे सफलता नहीं हुई। बाहरी कृत्रिम साधनोंसे इस महान एकताका स्थापित होना असम्भव है, इसके लिये मनुष्य-जातिके अन्तःकरणकी एकताकी आवश्यकता है। जबतक मनुष्य जातिमें "अयं निजः परोवेत्ति गणना लघु चेत-साम्, उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना दृढ़ न होगी, जबतक मनुष्य जाति आत्मैक्यका दिव्यअनुभव नहीं करने लगेगी, जबतक वह आत्मसृष्टिमें एकताका अनुभव न करने लगेगी तबतक इस राजनीतिक विश्वव्यापी एकताका—सार्वभौमिक राज्यका-सफलताके साथ स्थापित होना असम्भव है। अगर कोई प्रबल राष्ट्र अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिये किसी सार्वभौमिक सत्ता या राष्ट्रसंघकी स्थापनाकर संसारमें शान्ति-स्थापन करना चाहे, तो यह त्रिकालमें सम्भव नहीं। संसारव्यापी शान्ति बाह्य साधनोंसे नहीं आन्तरिक साधनोंसे स्थापित हो सकती है। जड़वादके पायेपर, बाहरी शक्तिके बलपर "सार्वभौमिक राज्य" स्थापित किया जायगा, तो वह कभी चिरंजीवी

नहीं हो सकता। वह जन्महीसे रुग्ण होकर अत्यन्त अल्पायुमें ही मृत्युकी शय्यापर जा लेटेगा। इसलिये कविवर रवीन्द्रनाथ और प्रातःस्मरणीय अरविंद घोषने संसारव्यापी एकताका, सार्वभौमिक सत्ताकी सफलताके लिये मनुष्य-जातिके आत्मैक्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता बतलायी है। अबतक इस विषयमें जो प्रयत्न हुए, उनकी असफलताका कारण यह था कि उनमें आत्मिक भाव नहीं था, उनकी नींव जड-शक्तिपर पड़ी हुई थी।

अत्यन्त उच्च, पवित्र और दिव्य आदर्शों को रखते हुए आत्मिकभावपर अगर कोई ऐसी सार्वभौमिक सत्ता, जिसमें सारी मनुष्य-जातिके प्रतिनिधि हों, जिसमें सारी मनुष्य-जातिकी कल्याणकामना हो, जिसमें मनुष्यजातिके लौकिक और आत्मिक विकासके ध्येय समाविष्ट हों, स्थापित हो तो उससे संसारका वास्तविक कल्याण हो सकता है और वह सफलतापूर्वक चिरकालतक जीवित रह सकती है।

३ राज्यके भिन्न भिन्न रूप।

सुप्रसिद्ध ग्रीक तत्त्वज्ञानी एरिस्टाटलने राज्यके रूपोंका विभक्तीकरण किया था। थोडेसे मतभेदके साथ आपका यह विभक्तीकरण आज भी कई राजनीतिके पण्डितोंको मान्य है। राजनीतिक संसारमें बहुत प्रगति हो जानेके कारण, इस वक्त एरिस्टाटलके विभक्तीकरण (Division)से जैसा चाहिये, वैसा काम नहीं चलता, पर फिर भी तत्त्वतः यह अब भी मान्य

हो रहा है। एरिस्टाटलने राज्यके प्रधानतया तीन रूप बतलाये हैं। (१) राजतन्त्र (Monarchy) (२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और (३) प्रजातन्त्र (Democracy)। आज भी प्रधानतासे राज्यके ये तीन ही रूप माने जाते हैं। कितने ही विभाग जो आजकल किये जाते हैं, किसी न किसी तरह इन तीनोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। पहले हम इन तीनों पद्धतियोंका अलग २ विचारकर फिर हम इनके अन्तर्गत आनेवाली अन्य राज्य पद्धतियोंका भी विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

राजतन्त्र।

राजतन्त्र (Monarchy) उस शासनप्रणालीका नाम है, जिसमें किसी एक उच्चतम सत्ताकी प्रेरणासे राज्यका कारोबार चलता हो। इसे हम सीधे सादे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जहा एक राजाका राज्य हो, जहा राजाके हाथमें राज्यकी सब विधि द्वारा मर्यादित शक्तिया और अधिकार हों, वहाके शासनको राजतन्त्र कहते हैं। महामति एरिस्टाटलका कथन है—"वह राज्य राजतन्त्रीय कहलाता है, जहा एक आदमी सर्वसाधारणके हितके लिये राज्य करता है। अमेरिकाके सुप्रसिद्ध लेखक मि० गार्नरका कथन है "जहा शासनकी ऊंची सत्ता किसी एक व्यक्तिमें केन्द्रीभूत हुई हो, चाहे फिर उसके अधीनस्थ शासनका फुटकल काम करनेवाले कितने ही व्यक्ति क्यों न हों, वहाके शासनको राजतन्त्र कहते हैं।"

राजतन्त्रके प्रधानतासे दो भेद किये जा सकते हैं। सब-

सत्ताधारी राजतन्त्र(Absolute monarchy)और वैध राजतन्त्र (Constitutional monarchy)। सर्वसत्ताधारी राजतन्त्र उसे कहते हैं जहां "राजा करे सो न्याय और पासा पड़े सो दाव" की कहावत चरितार्थ होती है, जहां राजाका हुक्म ईश्वरीय आज्ञाके तुल्य समझा जाता है, जहां राजाके अधिकारमें किसीको चूं करनेतकका अधिकार नहीं, जहां राजा ही सब कुछ है, प्रजाके मतका या भावोंका आदर करना या न करना, यह राजाके मर्जीकी बात है। रूसका जार तथा भारतके अधिकाश देशी राजा इस श्रेणीमें आते हैं। हमारी रायमें सर्वसत्ताधारी राजतन्त्रके भी दो उपविभाग हो सकते हैं। यथा आदर्श सर्वसत्ताधारी और स्वेच्छाचारी या अत्याचारी सर्वसत्ताधारी राजतन्त्र। आदर्श या प्रजाप्रेमी सर्वसत्ताधारी राजा उन्हें कहते हैं जिनके हाथमें यद्यपि सर्वसत्ता रहती है, पर वे अपनी खुशीसे प्रजामतका बड़ा आदर करते हैं, प्रजाको पुत्रवत् समझते हुए उसीके हितमें अपना हित समझते हैं। प्रजाकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नतिको अपना प्रधान ध्येय मानते हैं। इस प्रकारके उच्चातिउच्च और दिव्य राजाओंमें हम श्रीराम-चन्द्रका नाम सबसे पहले रखेंगे,जिन्होंने प्रजामतके आदर करनेका तथा प्रजाहितका सर्वोत्तम आदर्श दिखलाया। इस श्रेणीके और भी कई आदर्श राजाओंके उल्लेख हमारे शास्त्रोंमें मिलते हैं। आधुनिक कालमें यद्यपि "राम" जैसे दिव्य राजा दिखायी नहीं देते हैं, पर फिर भी कुछ ऐसे राजा हैं जो प्रजामतका

आदर करते हैं और प्रजाका कल्याण करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। किसी अंशमें महाराजा बड़ौदा, मैसूर, ट्रावनकोर, इन्दौर, झालरापाटन आदिके नृपतियोंको इस श्रेणीमें ले सकते हैं। दूसरी श्रेणीमें अत्याचारी और स्वेच्छाचारी सर्वसत्ताधारी राजा आते हैं। ये प्रजामतकी कुछ परवा नहीं करते। राज्यको अपनी पर्यौती मानते हैं। ये अपने आपको देवताका अंश या विष्णुका अवतार समझते हैं। प्रजामतकी अवहेलना कर चाहे सो कर डालते हैं। ये समझते हैं कि ईश्वरने हमें शासन करने हीके लिये सृजा है। मतलब यह कि ये पूरे तौरसे स्वेच्छाचारी होते हैं। रूसके मृत जारकी गणना ऐसे स्वेच्छाचारियोंमें थी। भारतवर्षके अधिकांश राजा महाराजा विशेष कर राजपूतानेके राजा इस श्रेणीमें आने योग्य हैं।

अब वैध राजतन्त्र (Constitutional monarchy) को लीजिये। वैध राजतन्त्र उसे कहते हैं जिसमें राजाकी शक्तियां देशकी किसी विधि (Constitution) से या प्रजामतसे मर्य्यादित हों। इङ्गलैण्डके आधुनिक राजा सम्राट पञ्चम जार्ज इस श्रेणीमें आते हैं। यद्यपि वे राजराजेश्वर हैं, पर उनके अधिकार देशकी विधि (Constitution) से मर्य्यादित हैं। वे बिलकुल स्वेच्छाचारी नहीं हैं। पार्लियामेण्टसे उनके अधिकार नियमित हैं। वे भारतीय राजाओंकी तरह मनमानी नहीं कर सकते। यूरोपके अन्य कितने ही राजाओंकी शक्तियां या अधिकार कुछ न्यूनाधिक रूपसे, इसी प्रकार देशकी विधिसे नियमित हैं।

यह तो हुए शासनकी दृष्टिसे राजतन्त्र (Monarchy) के भेद। अब दूसरी तरहके भेदोंपर विचार कीजिये। राजा दो तरहके होते हैं, एक वे जो पुश्तैनी राजा होते हैं, दूसरे वे जो लोगोंके द्वारा चुने जाते हैं। हिन्दुस्तानके प्राचीन इतिहासके देखनेसे पता चलता है कि प्राचीन हिन्दुस्तानमें कई जगह राजा चुने जाते थे। वेदोंमें भी राजाके चुने जानेके उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थोंमें तो इस प्रकारके कई उल्लेख मिलते हैं। कहा जाता है कि प्राचीन कालमें रोममें भी राजा लोग चुने जाते थे। पोलैण्डके इतिहासमें भी राजाओंके चुने जानेके कई उल्लेख हैं। पवित्र रोमन साम्राज्यका प्रधान (Head) भी चुना गया था। सन् १७७८में बर्लिनकी सुलहके अनुसार बलगेरियाके राजाने भी चुनावके द्वारा राजगद्दी प्राप्त की थी। पर इस वक्त संसारके प्राय. सब राजा पुश्तैनी हैं, अर्थात् परम्परासे उनका परिवार राज्य करता आ रहा है।

अब साधारण रूपसे यह देखना है कि राजतन्त्रमें क्या गुण और दोष हैं। प्रत्येक बातका विचार करते समय यह आवश्यक है कि उसकी दोनों बाजुयें दिखलायी जावें। अतएव हम यहां राजतन्त्रके गुण और दोषोंकी समालोचना करना चाहते हैं। यह कहनेकी तो आवश्यकता नहीं कि राजतन्त्र शासनप्रणाली संसारमें अत्यन्त प्राचीन है। संसारमें इसका कबसे प्रादुर्भाव हुआ, इसका ठीक ठीक प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। जो कुछ मिलता है, वह विश्वसनीय नहीं। अठारहवी सदीके शुरू

सिद्ध दार्शनिक और इतिहासवेत्ता मि० ह्यूमने कहा था—"यद्यपि आधुनिक कालमें सब प्रकारकी राज्य-प्रणालियोंमें सुधार हुआ है, पर राजतन्त्र (Monarchial Government) ने पूर्णता (Perfection) की ओर सबसे अधिक प्रगति की है। सभ्य राज्यतन्त्र रिपब्लिककी तरह कानून और विधिके राज्य होने लगे हैं। उनमें व्यवस्था-पद्धति और स्थिरता दीखने लगी है। वहां धन माल सुरक्षित है। उद्योग धन्धोंका उत्तजन मिल रहा है। हुनर और कलाकौशल तरक्की पा रहे हैं। राजा लोग प्रजाके साथ वैसा वर्ताव करने लगे हैं, जैसे पिता पुत्रके साथ करता है।" इस प्रकार कुछ अन्य महानुभावोंने भी राजतन्त्र शासनप्रणालीकी और उससे होनेवाले लाभोंकी प्रशंसा की है।

राजतन्त्रके गुण।

जो लोग राजतन्त्रके हिमायती हैं, वे इस राजतन्त्रके पक्षको कई तरहसे पुष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि इसमें सारी शक्ति एक जगह केन्द्रीभूत रहती है इसलिये राज्य शासनमें मतभेद हो जानेसे शक्तियोंके बिखर जानेका जो डर रहता है, वह इसमें नहीं रहता। जबतक कैसरके हाथमें जर्मनका राज्यसूत्र था, तबतक वहां जिस एकता और पूर्णतासे राज्यशासन चलता था, तथा राष्ट्रकी शक्तियोंका जैसा बढ़िया सङ्गठन था, वैसा आज नहीं है। यद्यपि वहां आज प्रजातन्त्र है, पर वहांकी शक्तियां बिखर गयी हैं। वहां बात बातमें मतभेद और विरोध हो रहा

है। कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ। इसके सिवा कैसरके समयमें जर्मनीकी सर्वाङ्गमुखी जो उन्नति हो रही थी वैसी आज नहीं हो रही है। इस प्रकारके उदाहरण देकर वे अच्छे राजतन्त्रको कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्रसे श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं कि कभी कभी योग्य, प्रजाप्रेमी और शासन चतुर राजाके राज्यमें प्रजा जैसी तरक्की कर जाती है, वैसी प्रजा कभी कभी प्रजातन्त्रमें भी नहीं कर पाती।

दूसरी बात यह है कि जिन देशोंमें सभ्यताका यथेष्ट विकास नहीं हुआ है, जहाकी प्रजा सुसंस्कृत,योग्य तथा शासन क्षम नहीं है, वहा कई राजनीतिविशारदोंके मतानुसार जैसा सुयोग्य और परोपकारी राजतन्त्र सफल हो जाता है, वैसा प्रजातन्त्र नहीं होता। इसे दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जहा लोगोंका यथेष्ट रूपसे राजनीतिक विकास नहीं हुआ है, जहाके लोग शासनकार्यमें हिस्सा लेनेके लिये अयोग्य है, जहाके लोगोंकी राजनीतिक भावनायें बिलकुल अपूर्ण या सुषुप्ति अवस्थामें हैं, वहाकी स्थितिके अनुकूल विशेष तौरसे राजतन्त्र ही हो सकता है। यहा यह तो अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि यह बात अच्छे और लोकप्रिय राजतन्त्रके लिये कही जा रही है। अत्याचारी और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र तो सर्वत्र बुरा है, उसका अनुमोदन तो किसी स्थितिमें नहीं किया जा सकता। अमेरिकाके सुप्रसिद्ध विद्वान् मि० गार्नरका कहना है कि लोगोंको जङ्गली अवस्थासे निकालकर सभ्य अवस्थामें पहुचानेके

लिये और उनमें नियमबद्धता (Discipline) का गुण लानेके लिये जितना काम राजतन्त्र दे सकता है, उतना कोई दूसरा तन्त्र नहीं दे सकता। इंग्लैण्डके विश्वविख्यात लेखक जान स्टुअर्ट मिलका कथन है—"जङ्गली आदमियोंके साथ व्यवहार करनेके लिये एकतन्त्रीय शासनप्रणाली ही सर्वथा उपयुक्त है। हां, उन जङ्गली मनुष्योंको सुधार कर सभ्य बनाना उसका उद्देश्य अवश्य होना चाहिये।" आगे चलकर फिर मिल महोदय कहते हैं—"जबतक मनुष्य-जाति इस अवस्थापर न पहुंच जाये कि वह गहनतम मामलोंमें स्वतन्त्रताके साथ वादानुवाद न कर सके, तबतक उनपर स्वाधीनताका तरह कुछ नियमित मर्यादामें लगाना चाहिये।" कई पाश्चात्य लेखकोंका कथन है—"मध्ययुग या प्राचीन युगके लिये राजतन्त्र शासनप्रणाली ही उपयुक्त थी। उसीका अस्तित्व उस वक्त मुनासिब (Justified) था। उस वक्तकी स्थितिमें अन्य शासनप्रणालीका सफल होना कठिन था। राजतन्त्र शासनप्रणालीहीने अन्य प्रकारकी शासन-प्रणालियोंका मार्ग साफ किया।"

राजतन्त्रके दोष।

अबतक हमने विशेष रूपसे राजतन्त्रके गुणोंपर ही विचार किया है। अब उसके दोषोंको भी देख लीजिये। हम ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारके दोषोंपर अलग अलग विचार करेंगे। पहले सर्वसत्ताधारी राजतन्त्र (Absolute Monarchy)को लीजिये। यह बात तो साफ है कि जिन लोगोंके लिये राज्य किया

जाता है, उनका उसकी शासनप्रणालीमें कोई हाथ नहीं रहता। हां, राजा चाहे तो अपनी मर्जीसे थोडेसे हक प्रजाको दे देता है; पर यह बात राजाकी मर्जीपर है। इस शासनप्रणालीमें जो कुछ एक आदमी—राजा ठीक और योग्य समझता है, उसकी समझमें जो बातें ठीक जँचती हैं; वही करता है। मतलब यह कि हजारों लाखों प्रजागणोंका शासन एक मनुष्यके हाथमें रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ कर्त्तव्यक्षम और आदर्श राजाओंको छोडकर अधिकांश राजा शासनमें जितना अपना हित सोचते हैं उतना प्रजाका नहीं सोचते। प्रजाके हित और स्वार्थका बलिदानकर वे अपना स्वार्थ और हित साधते हैं। गरीब प्रजाकी कठिन कमाईके धनको किस प्रकार अपने ऐश आराममें, अपनी नीच वासनाओंकी पूर्तिमें बरबाद करते हैं, इसके सैकडों उदाहरण आज हमारे सामने हैं। 'Development of European Polity' नामक ग्रन्थमें लिखा है—"सब राजतन्त्रकी प्रवृत्ति स्वेच्छाचारिता और उसकी बुराइयोंकी ओर होती है। इसमें राजाके हित और स्वार्थको बहुत स्थान मिलता है। लोगोंके स्वार्थों के बलिदानपर कई राजाओंकी नीच वासनाओंकी पूर्ति होती है। इस प्रकारकी कई बुराइया राजतन्त्रमें हैं।"

अगर यह भी मान लिया जावे कि किसी राजतन्त्रीय शासनमें धर्मराज्य हो रहा है, प्रजा सुखी है, राजकोष अच्छे कामोंमें खर्च किया जाता है, शासन बडी क्षमता और योग्यतासे चलाया

जाता है, तोभी इन सब उच्च गुणोंके होते हुए भी आजकलके जमानेमें यह शासनप्रणाली श्रेष्ठतम नहीं समझी जा सकती। हां, ऐसे धर्मशील और न्यायी राजाको आदर्श और धर्मात्मा कह सकते हैं, पर इस वक्त एक तन्त्रीशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, आदर्श नहीं माना जा सकता। क्योंकि शासनमें योग देनेसे प्रजापर जिम्मेदारी पड़ती है और जिम्मेदारीसे मनुष्यकी आत्माका विकास होता है, उसमें शासन क्षमता आती है। यह बात अच्छेसे अच्छे राजतन्त्रमें भी उतनी सम्भव नहीं, जितनी प्रजातन्त्रमें है। सरकारका उद्देश केवल प्रजाको सुखी और सतोषी करना ही नहीं है, उसकी शक्तियोंका विकास और उनके फूलने फलनेके अनुकूल अवसर भी उपस्थित करना है। आजकलके जमानेमें सरकारका वही रूप अच्छा समझा जाता है, जिसमें लोगोंका हिस्सा हो, और जिसके द्वारा शासनक्षम योग्य नागरिकोंकी उत्पत्ति हो। सरकारका ऐसा ही रूप आजकल आदर्श समझा जाता है। इसके अतिरिक्त राजतन्त्र शासनप्रणालीमें और भी अनेक दोष हैं, उन सबका विवेचन करना यहा समय नहीं। अब हम यहा वंशपरम्परागत राजतन्त्रप्रणालीकी थोड़ी सी समालोचना करते हैं।

वंशपरम्परागत राज्य-पद्धतिके गुणदोष।

राजतन्त्रके पक्षमें जो कुछ कहा जाता है उसका निष्कर्ष यही है कि पिताके गुण कुछ न कुछ अंशमें पुत्रमें उतरते हैं। आधुनिक विज्ञानने भी किसी अंशतक इस बातको स्वीकार

किया है। पर इस नियममें जो अपवाद (Exceptions) देखे जाते हैं, वे भी कम नहीं हैं। दुर्गुणी पिताके सद्गुणी पुत्र होने तथा सद्गुणी पिताके दुर्गुणी पुत्र होनेके सैकडों उदाहरण दिखलायी देते हैं। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि गुणवान पिताके गुणवान ही पुत्र उत्पन्न हों। इसी प्रकार किसी सद्गुणी और बुद्धिमान् राजाके सद्गुणी और बुद्धिमान ही पुत्र उत्पन्न होंगे, इसका कोई नियम नहीं है। सम्भव है कि उसके दुर्गुणी, लम्पट और अयोग्य पुत्र भी उत्पन्न हो जाय। अतएव योग्यता और अयोग्यता सद्गुण या दुर्गुणकी बिना परीक्षा किये ही केवल इसी बातपर कि वह राजाका लडका है किसीको राजगद्दीपर बैठा देना और हजारों लाखों आदमियोंके भाग्यकी बागडोर उसके हाथ सौंप देना कहातक उचित है इसका विचार प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धिसे कर सकता है। इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कई बार इसी पुश्तैनी पद्धतिके कारण राजगद्दीपर ऐसे अनुभवहीन, अयोग्य और शासनअक्षम राजा बैठाये जाते हैं जो इन्द्रियोंके गुलाम बनकर दिनरात विषयासक्त रहते हैं और प्रजाके कठिन कमाईके धनको अधिकाश रूपसे प्रजाहितमें न लगाकर अपनी नीच वासनाओंकी तृप्तिमें लगाते हैं। फ्रान्समें पाच सौ वर्षतक निरन्तर ऐसे राजा राज्यासीन किये गये, जिनकी उम्र राज्याभिषेकके समय पचीस वर्षसे भी कम थी। सौ वर्षतक तो यहा ऐसे राजा गद्दीपर बैठते रहे जो उस समय इक्कीस वर्षकी आयुके भी न थे। हमारे भारत-

वर्षमें तो हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहां देशी राज्योंमें सर्वत्र पुश्तैनी पद्धति मौजूद है। अठारह वर्षका लडका यहां गद्दीपर बैठा दिया जाता है। उसकी शिक्षा ऐसे वायुमण्डलमें होती है, जिससे वह संयमी और प्रजाहितैषी बननेके बदले परले दर्जेका लम्पट और विलासप्रिय बनता है, प्रजाप्रेमी बननेके बदले गौराङ्गोंका दास बनता है। वह तो यह समझ बैठता है कि राज्य मेरी मौरूसी जायदाद है। इसका जैसा चाहूं वैसा उपयोग करनेका मेरा अधिकार है। प्रजाको इसमें चूँ करनेका कोई हक नहीं। वह मनमाने रूपसे धन उडाता है। प्रजापर चाहे जैसे मनमाने अत्याचार करता है। उसे अपनी जिम्मेदारीका तनिक ख्याल नहीं रहता। हमारे हिन्दूशास्त्रोंमें राजाके जो दिव्य आदर्श बतलाये हैं, उनका उसे ज्ञान नहीं रहता। हमारे कहनेका मतलब यह नहीं है कि आधुनिक कालके सब ही देशी राजा अयोग्य और बेलगामके घोडे हैं। उनमें कुछ अच्छे और प्रजाप्रेमी तथा न्यूनाधिक रूपसे अपनी जिम्मेदारीको समझनेवाले हैं, पर इनकी संख्या अंगुलीपर गिनने योग्य भी नहीं निकलेगी। अधिकांश राजा उपरोक्त ही श्रेणीके हैं। इन सब बातोंसे यही तथ्य निकलता है कि वंशपरम्परागत पद्धतिमें जहां थोड़ेसे गुण हैं, वहां अनेक दोष हैं। तिसपर भी जहां राजाकी शक्तियां अमर्यादित रहती हैं, किसी विधि (Constitution) या प्रजामतसे नियमित नहीं रहतीं, वहां तो राज्यकी यह पुश्तैनी पद्धति अत्यन्त हानिकारक है। यद्यपि ऐसी दशामें भी कुछ आदर्श

किया है। पर इस नियममें जो अपवाद (Exceptions) देखे जाते हैं, वे भी कम नहीं हैं। दुर्गुणी पिताके सद्गुणी पुत्र होने तथा सद्गुणी पिताके दुर्गुणी पुत्र होनेके सैकडों उदाहरण दिखलायी देते हैं। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि गुणवान पिताके गुणवान ही पुत्र उत्पन्न हों। इसी प्रकार किसी सद्गुणी और बुद्धिमान् राजाके सद्गुणी और बुद्धिमान ही पुत्र उत्पन्न होंगे, इसका कोई नियम नहीं है। सम्भव है कि उसके दुर्गुणी, लम्पट और अयोग्य पुत्र भी उत्पन्न हो जाय। अतएव योग्यता और अयोग्यता सद्गुण या दुर्गुणकी बिना परीक्षा किये ही केवल इसी बातपर कि वह राजाका लडका है किसीको राजगद्दीपर बैठा देना और हजारों लाखों आदमियोंके भाग्यकी बागडोर उसके हाथ सौंप देना कहांतक उचित है, इसका विचार प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धिसे कर सकता है। इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कई बार इसी पुश्तैनी पद्धतिके कारण राजगद्दीपर ऐसे अनुभवहीन, अयोग्य और शासनअक्षम राजा बैठाये जाते हैं जो इन्द्रियोंके गुलाम बनकर दिनरात विषयासक्त रहते हैं और प्रजाके कठिन कमाईके धनको अधिकांश रूपसे प्रजाहितमें न लगाकर अपनी नीच वासनाओंकी पूर्तिमें लगाते हैं। फ्रान्समें पांच सौ वर्षतक निरन्तर ऐसे राजा राज्यासीन किये गये, जिनकी उम्र राज्याभिषेकके समय पचीस-वर्षसे भी कम थी। सौ वर्षतक तो वहां ऐसे राजा गद्दीपर बैठते रहे जो उस समय इक्कीस वर्षकी आयुके भी न थे। हमारे भारत-

धनवान या राजवशके लोग अपने स्वार्थ और हितको सामने रखकर शासन करने लगे। इसीसे इसका महत्व घट गया और आधुनिक ससारमें राज्यकी पद्धति सर्वोत्तम और आदर्श नहीं समझी जाती है।

उच्च या अल्पजनसत्तात्मक राज्यके तत्त्वत जो मूल आदर्श हैं, उनपर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। यह शासन-प्रणाली गुण को महत्व देती है, संख्याको नहीं अर्थात् थोडेसे गुणी मनुष्योंके शासनको यह जितना अभीष्ट समझती है, उतना जनताके महाविशाल समूहके शासनको नहीं समझती। यह झुडके शासन (Mob-rule) को नापसन्द करती है। इसका सिद्धान्त है कि कुछ मनुष्य अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा शासन करनेमें अधिक क्षम रहते हैं। यह अनुभव और राजनीतिक प्रतिभाका अधिक आदर करती है। प्राचीन शासनप्रणालीको स्थिर रखना चाहती है। यह परम्परागत सत्तामें आकस्मिक क्रान्ति करनेकी विरोधी रहती है। पुराने रीतिरिवाजों और इतिहासपर हडताल फेरना यह पसन्द नहीं करती। उन सत्ताओंको जो दीर्घ समयसे आदर-णीय गिनी जा रही हैं, एकाएक नाश करना नहीं चाहती। यह राजतन्त्र (Monarchy) और प्रजातन्त्र (Democracy) के बीचकी प्रणाली है, जो दोनोंको सीमोल्लघन करनेसे रोकती है। यह दोनोंको उचित सयममें रखना चाहती है।

माटेस्क्यूके कथनानुसार यह एक नर्म राज्यपद्धति है, जो सद्‌गुणपर निर्भर करती है। इसमें पुश्तैनी जो शक्ति है, वह

राजा निकल आते हैं, पर वे केवल अपवाद रूप रहते हैं। उनसे इस पद्धतिका किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता।

४ उच्च जनसत्तात्मक राज्य

जिस शासनप्रणालीमें थोडेसे लोगोंके हाथमें या किसी विशिष्ट उच्च वर्गके हाथमें उच्च राज्यसत्ता रहती है, उसे अंग्रजीमें एरिस्टोक्रेसी "Aristocracy" कहते हैं। हिन्दीमें इसे उच्च या अल्पजनसत्तात्मक राज्य कह सकते हैं। यह कई प्रकारका होता है। एक तो वह जिसमें राज्यसत्ता कुछ उच्च वंशके लोगोंके हाथमें हो, दूसरे वह जिसमें कुछ धनवान लोगोंके हाथमें राज्यसत्ता हो, तीसरे वह जिसमें पण्डितों और विद्वानोंके हाथमें हो। मतलब यह कि इस अल्पजनसत्तात्मक शासन-प्रणालीमें जनताके थोडेसे लोग ही राज्यसूत्र चलाते हैं।

राजनीतिशास्त्रके कितने ही पण्डितोंका कहना है कि अगर इस शासनप्रणालीमें वे ही लोग राज्यचक्र चलावें, जो योग्यता और सद्गुणोंमें सर्वोत्तम श्रेणीके हों, तो इस शासन-प्रणालीका समर्थन बडी अच्छी तरह किया जा सकता है। प्राचीन ग्रीक लोगोंकी यही भावना थी कि राज्यसूत्र उन्हीं लोगोंके हाथमें रहे, जो नैतिक और बौद्धिक दृष्टिसे सर्वोपरि श्रेणीके हों। उन्होंने अल्पजनसत्तात्मक राज्यका दूसरा नाम "सर्वोत्तम मनुष्योंका शासन" रखा है। पहले पहल इस शासन-प्रणालीका बडा आदर था। पर पीछे जाकर इसका रूप विकृत हो गया। "सर्वोत्तम मनुष्योंका यह शासन" धनकुबेरोंके शासनमें परिणत हो गया।

म्मत है कि किसी खास और विशिष्ट कुटुम्बपर राजनीतिक ोग्यताका सिक्का लगा देनेसे काम नहीं चलता।* क्योंकि जैसा म पहले कह चुके हैं बुद्धिमान् बापका लड़का नालायक निकल ाता है और नालायक बापका लड़का बुद्धिमान् निकल जाता । इस प्रकारके अकारण भेद (Spontaneous variation) हुत होते हैं। अतएव किसी राजनीतिधुरन्धर पिता या टुम्बकी भावी सतानें भी उसी योग्यताकी होंगी, इस ातका कोई निश्चय नहीं कर सकता। इतना होनेपर भी कुछ म्भीर और नामी लेखकोंने खुल्लमखुला नहीं परन्तु पुश्तैनी त्त्वपर अल्पजनसत्तात्मक राज्यके सङ्गठनको समर्थन करनेका यत्न किया है। सर हेनरी मेनका कथन है कि "पुश्तैनी ाज्यकार्य्य करनेवाले लोगोंमें राज्यकार्य्यके योग्य उतनेही नुष्य सम्भवत मिल सकते हैं, जितने सर्वसाधारणके चुनाव (Popular election) से मिल सकते हैं।

प्रोफेसर सिली महोदयका कथन है—"वह मनुष्य जो राजनीतिज्ञका पुत्र है, कुछ न कुछ राज्यके मामलोंमें परिचय रखता ही है, क्योंकि वह दिन रात राजनीतिक वायुमण्डलमें रहता है।" इग्लैण्डके सुप्रख्यात् इतिहास लेखक लेकी महोदयने

* राजपूतानेमें सुटमड़ी एक कौम है, इस कौमके कुछ लोगोंने राजनीतिक योग्यताका परिचय कभी दिया होगा, इससे उनकी कौमही सुटमड़ी नामसे मशहूर हो गयी। यह कौम अपने आपको राजधुरन्धर मानती है। ऐसे भारतके अन्य प्रान्तों और यूरोपमें भी उदाहरण मिलते हैं।

प्रजातन्त्रमें नहीं है। यह अपने अधिकार और शक्तिका नादानीसे उपयोग नहीं करतो। यह बहुत संभल संभलकर आगे पैर रखती हैं। अगर इसमें प्रतिभाशाली और योग्य मनुष्योंका चुनाव होता रहे तो इसके खिलाफ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अगर लोकसमूहकी दृष्टिसे विचार न कर केवल सरकारके गुणों की दृष्टिसे विचार किया जावे तो यह कहना पड़ेगा कि अशिक्षित और अज्ञानी लोकसमूहके शासनसे इसमें अधिक शक्ति और योग्यताके तत्व हैं। जान स्टुअर्ट मिलका भी कथन है कि जो सरकारें अपनी तुली हुई मानसिक योग्यता और शक्ति (Vigor) के लिये सुप्रसिद्ध हुई हैं उनमें ज्यादातर अल्पजनसत्तात्मक सरकार ही है। हा यह बात अवश्य है कि इस प्रणालीमें वे ही लोग होने चाहिये जिन्होंने सार्वजनिक कार्य्य और सार्वजनिक जीवनहीको अपने जीवनका लक्ष्य बना रखा हो।

उच्च या अल्पजनसत्तात्मक राज्यपद्धतिके दोष

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दीखनेमें यह राज्यपद्धति बड़ीही अच्छी मालूम होती है। पर इसमें कुछ व्यावहारिक अड़चनें ऐसी हैं कि जिनका हल होना बड़ा कठिन है। पहली बात यह है कि किस तरहके आधारपर ऐसा चुनाव किया जावे जिसमें राजनीतिक दृष्टिसे सर्वोत्तम मनुष्योंका ही चुनाव किया जा सके। दूसरी बात यह है कि इस बातका जिम्मा कैसे किया जावे कि ये लोग शासनमें अपने अधिकारोंका अपने लाभ और स्वार्थकी पूर्तिके लिये उपयोग न कर सके। यह बात तो अब प्राय सर्व-

तान पैदा हो। क्या कई ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि बड़े ारी राजनीतिज्ञोंके ऐसे भी पुत्र हैं जिनमें मुस्तइीपनका गुण ामूली आदमीके बराबर भी नहीं है। इसके अलावा इसमें जो ्टियां हैं उन्हें हम ऊपर दिखला चुके हैं।

इसी प्रकार धन, जमीन, जायदाद या व्यक्तित्व भी राजनीतिक ोग्यताके खास चिह्न नहीं हैं। जो लोग इन बातोंसे राजनीतिक ोग्यताकी परीक्षा करते हैं वे गहरी भूल करते हैं। इन बातोंका ाजनीतिक योग्यतासे कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं। जेफरसन ामक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञका कथन है कि वह अल्पजनसत्तात्मक शासन (Aristocracy) जिसका पाया धन और जन्म पर है केवल शरारतसे भरी हुई ही नहीं है पर साथही भयङ्कर भी है। हां वह उच्चजनसत्तात्मक शासन-प्रणालीको, जो सद्गुण और योग्यतापर निर्भर करती है, सर्वोत्तम समझता है। सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी रूसो-निर्वाचित उच्चजनसत्तात्मक शासन प्रणाली सर्वोत्तम है, जहां सबसे अधिक बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्वार्थके लिये नहीं वरन् जनताके हितके लिये शासन करते हैं। इस प्रकारकी शासन प्रणाली जिसमें जनता द्वारा चुने हुए सबसे अधिक बुद्धिमान् और योग्य मनुष्य शासन करते हैं, आधुनिक कई लेखकोंके मतानुसार भी उत्तम शासन प्रणाली है। पर जब जनता द्वारा चुने हुए सर्वोत्तम मनुष्य शासन करें तो वहां प्रजासत्तात्मक राज्य हो जाता है।

बेन्जमिन फ्रैंकलीनके इस कथनका खण्डन किया है कि कानून पण्डितोंके कानून पण्डितही या शासकोंके शासकही पुत्र होते हैं। यह बात उतनी ही भद्दी है जितनी कि यह बात है कि महान गणितज्ञका पुत्र भी महान गणितज्ञ होता है।" यह बात निर्मूल है कि प्रतिभाशाली पिताकी प्रतिभा सर्वदा और सर्वत्र पुत्रमें उतनी ही चाहिये। लेकी महोदय कहते हैं—यदि हम पाच सौ ऐसे कुटुम्बोंको लें जिनका पुश्तैनी धन्धा राज्यकार्य है, और जिनकी स्वाभाविक भावनायें भी राजनीतिक हैं तो क्या हमें इन कुटुम्बोंमें अधिक राजनीतिज्ञ और शासनपूर्ण नहीं मिलेंगे? इसी सख्याके अन्य कुटुम्बोंसे स्वभावतया ही उपरोक्त कुटुम्बोंमें अधिक राजनीतिज्ञ मिलेंगे। सफल राजनीतिक जीवनके लिये तत्त्वज्ञान और कविताकी तरह असाधारण बुद्धि और प्रतिभाकी उतनी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये केवल निर्णयशक्ति, उद्योग, चतुराई और मनुष्य स्वभावके ज्ञानकी आवश्यकता है। ये गुण असाधारण बौद्धिक शक्तिके बिना भी पूर्णतापर पहुच सकते हैं। यद्यपि लेकी महोदयके इस कथनमें सत्यका अश है पर साथ ही उनके इस कथनमें कई त्रुटिया भी हैं। यहा यह सवाल नहीं है कि कौन कौनसे कुटुम्बोंमें शासन करने लायक अधिक मनुष्य मिल सकते हैं। सम्भव है कि जिन खानदानोंका परम्परासे ही धन्धा राज्यकार्य्य है उनमें अधिक राज्यकार्य्य धुरन्धर निकल जावें। पर सवाल इस बातका है कि क्या कोई ऐसा निश्चित नियम है कि राज्यकार्य्य धुरन्धरके घर राज्यकार्य्य-धुरन्धरही

आजकलका समय जनसत्तात्मक शासनका है। आजकल यही शासनप्रणाली सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। क्योंकि इस शासन-प्रणालीमें सर्वसाधारण जनताकी इच्छाएं, भावनाएं और आवश्यकताए जितनी अच्छी तरहसे व्यक्त हो सकती हैं तथा जितनी अच्छी तरहसे उनकी पूर्ति हो सकती है, उतनी अन्य किसी शासनप्रणालीमें नहीं हो सकती। जिन लोगोंके लिये शासन किया जाता है, उनकी इसमें पूरी आवाज रहती है। इसमें लोगोंके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि शासन करते हैं। अतएव वे अपने कार्य्यों के लिये उन लोगोंके सामने जिम्मेदार रहते हैं जिन्होंने उन्हें चुना है। या दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि प्रजा-प्रतिनिधि अपने कार्यों के लिये प्रजाके सामने जिम्मेदार रहते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि इन प्रतिनिधियोंके लिये शासनमें अपने स्वार्थों या हितकी पूर्ति करनेके बहुत ही कम अवसर रह जाते हैं। क्योंकि उन्हें प्रतिक्षण इस बातका ख्याल रहता है कि हमें अपने कार्यों के लिये प्रजाको जवाब देना है।

सुप्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक (Political philosopher) जान स्टुअर्ट मिलका कथन है--"सब लोग या लोगोंका अधिकांश भाग अपने चुने हुए प्रतिनिधियोंके द्वारा जिस राज्यमें शासन करता है, उसे प्रजासत्तात्मक राज्य कहते हैं। आदर्शकी दृष्टिसे राज्यका वही सर्वोत्तम रूप है जिसमें अन्तिम अधिकार जनताके हाथमें रहता है, जिसमें हर एक मनुष्यको आवाज उठानेका हक रहता है। केवल उसी सरकारसे समाजकी आवश्यकताए

प्रजासत्तात्मक शासन

लोकसत्तात्मक शासन राज्यके उस सङ्गठनको कहते हैं, जिसमें जनता या जनताका अधिकांश हिस्सा * प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे राज्यशासनमें भाग लेता हो। आजकलका प्रजासत्तात्मक राज्य इस तत्त्वपर निर्भर करता है कि हर एक प्रामाणिक तथा अपना हिताहित समझनेवाले व्यक्तिको राज्य कार्य्यमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे भाग लेनेका अधिकार है। जेफरसन नामक विख्यात राजनीतिज्ञ लेखकका कथन है कि आजकलके लोकसत्तात्मक राज्योंका सब दारोमदार अधिकांश जनताकी योग्यता तथा मध्यम श्रेणीके मनुष्य या मनुष्योंकी योग्यतापर है, क्योंकि ये ही लोग शासकोंको चुनते हैं। कितने ही लेखकोंका कथन है कि किसी राज्यकी नींव जनसत्तापर कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो पर राज्यकार्य्य करनेका भार तो नियमित सख्याके लोगों ही पर डालना पड़ता है अर्थात् व्यावहारिक दृष्टिसे वह प्रजासत्तात्मक होते हुए भी तत्त्वत उच्चजन या अल्पजनसत्तात्मक ही रहता है। एक अमेरिकन लेखकका कथन है कि सबकी सब जनता राज्यकार्य इसी प्रकार नहीं कर सकती जिस प्रकार एक गाडीमें बैठे हुए सबके सब लोग घोड़ोंको नहीं हांक सकते, पर तोभी कोई घोड़े को हांकेगा ही। इसी प्रकार शासनकार्य भी नियमित लोगोंतक ही परिमित रहता है।

*पागल, दुष्ट, नाबालिग बच्चे आदि कुछ लोगोंका हिस्सा इसमें नहीं रहता है।

आजकलका समय जनसत्तात्मक शासनका है। आजकल यही शासनप्रणाली सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। क्योंकि इस शासनप्रणालीमें सर्वसाधारण जनताकी इच्छाएं, भावनाएं और आवश्यकताएं जितनी अच्छी तरहसे व्यक्त हो सकती हैं तथा जितनी अच्छी तरहसे उनकी पूर्ति हो सकती है, उतनी अन्य किसी शासनप्रणालीमें नहीं हो सकती। जिन लोगोंके लिये शासन किया जाता है, उनको इसमें पूरी आवाज रहती है। इसमें लोगोंके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि शासन करते हैं। अतएव वे अपने कार्य्यों के लिये उन लोगोंके सामने जिम्मेदार रहते हैं जिन्होंने उन्हें चुना है। या दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि प्रजाप्रतिनिधि अपने कार्यों के लिये प्रजाके सामने जिम्मेदार रहते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि इन प्रतिनिधियोंके लिये शासनमें अपने स्वार्थों या हितकी पूर्ति करनेके बहुत ही कम अवसर रह जाते हैं। क्योंकि उन्हें प्रतिक्षण इस बातका ख्याल रहता है कि हमें अपने कार्यों के लिये प्रजाको जवाब देना है।

सुप्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक (Political philosopher) जान स्टुअर्ट मिलका कथन है--"सब लोग या लोगोंका अधिकांश भाग अपने चुने हुए प्रतिनिधियोंके द्वारा जिस राज्यमें शासन करता है, उसे प्रजासत्तात्मक राज्य कहते हैं। आदर्शकी दृष्टिसे राज्यका यही सर्वोत्तम रूप है जिसमें अन्तिम अधिकार जनताके हाथमें रहता है, जिसमें हर एक मनुष्यको आवाज उठानेका हक रहता है। केवल उसी सरकारसे समाजकी आवश्यकताएं

पूरी हो सकती है,जिसमें या तो सब लोग भाग लें या इतने लोग भाग लें जो समाजके सामान्य हितकी दृष्टिसे आवश्यक हैं।"

यह तो हुई प्रजासत्ताकी साधारण व्याख्याएं, अब यह देखना है कि प्रजासत्तात्मकमें वे कौनसे विशेष गुण हैं, जिनकी बदौलत यह आज ससारमें प्राय सर्वमान्य हो रहा है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध राजनीतिक मि०गार्नरका कथन है—"प्रजासत्तात्मक राज्यमें सर्वोत्तम गुण और विशेषता यह है कि वह जनताको उठाता है, उसमें रही हुई शक्तियोंका आविष्करण और विकास करता है, राज्यकार्योंके लिये उसका उत्साह बढाता है और शासनमें उसे योग्य स्थान देकर उसकी स्वदेश भक्तिको दृढ करता है। प्रजातन्त्र इस बातसे साफ इन्कार करता है कि कुछ मनुष्योंने तो शासन करनेके ही लिये जन्म लिया है और कुछ लोगोंने केवल उनकी आज्ञा पालनेहीके लिये जन्म धारण किया है। प्रजातन्त्र इस बातको नहीं मानता कि कुछ आदमी जन्महीसे बड़े होते हैं। वह सबको राजनैतिक दृष्टिसे समान पायेपर रखना चाहता है। लेव्हेले (Laveleye) महाशयका कथन है—"राजनीतिक दृष्टिसे कोई आदमी स्वतन्त्र नहीं है। जिस शासनमें, जिस सरकारमें जनताका हिस्सा नहीं रहता उसके लिये स्वार्थत्याग करनेके लिये स्वभावतया ही वह तैयार नहीं होता। प्रजातन्त्रसे जनतामें रही हुई स्वदेशभक्ति विकसित होती है, क्योंकि इसमें हर एक नागरिक यह जानता है कि सरकार हमारी है और सरकारी काम करनेवाले अधिकारी हमारे ही नौकर हैं। इसके अतिरिक्त

प्रजातन्त्रकी स्थापना समानता और लोकमतकी नींवपर होनेके कारण वे क्रान्तियोंके भयसे भी मुक्त रहते हैं। डी टार्कविल (De Toequeville) महोदयका कथन है "आजतक संसारमें जितनी क्रान्तियां हुई हैं और जिन्होंने संसारके रूपको बदल दिया है वे असमानताके नाश करनेहीके लिये हुई हैं।" यही महाशय अपने एक अन्य ग्रन्थमें लिखते हैं कि प्रजातन्त्र नागरिकताकी शिक्षा देनेवाली शाला है। जान स्टुअर्ट मिल महोदयने भी प्रजातन्त्रकी प्रशंसा करते हुए यह स्वीकार किया है कि प्रजातन्त्र जनताके चरित्र और बौद्धिक शक्तिको विकसित करनेमें बड़ी ही सहायता पहुंचाता है और किसी शासन या सरकारकी श्रेष्ठता इसीसे प्रकट होती है कि उसमें प्रजाकी मानसिक, नैतिक, आर्थिक और बौद्धिक शक्तियोंको कहांतक उत्तेजना मिलती है। इन शक्तियोंके बढ़ानेमें सरकारका जो रूप सबसे अधिक अनुकूल होता है, वह उसका सबसे अच्छा रूप है।

प्रजासत्तात्मक शासनके दोष।

अबतक हमने लोकसत्तात्मक राज्य या प्रजातन्त्रके गुणोंका ही विवेचन किया है, पर प्रत्येक पदार्थमें जहां गुण होते हैं, वहां कुछ न कुछ दोष भी अवश्य ही होते हैं। निर्दोष तो केवलमात्र परमात्मा है। भूतकालके कुछ लेखकोंने प्रजातन्त्रके दोषोंको दिखलानेकी बड़ी चेष्टा की है। ये लोग क्या कहते हैं, अब हम उसीका विवेचन करते हैं।

इनका कथन है कि प्रजातन्त्र गुणपर निर्भर नहीं करता, वह

संख्यापर निर्भर करता है अर्थात् वह गुणशाली मनुष्योंका शासन नहीं है बल्कि जनसमुदायका शासन है। वह इस बातकी उपेक्षा करता है कि जिस प्रकार अन्य कार्य्यक्षेत्रोंमें विशेष योग्यताकी आवश्यकता होती है वैसे ही राज्यकार्य्य में भी होता है। वह इस झूठे सिद्धान्तपर काम करता है कि सब मनुष्योंमें शासन करनेकी क्षमता बराबर है अर्थात् जितनी शासन करने की क्षमता एक मनुष्यमें है, उतनी ही दूसरेमें है। वह यह मान कर चलता है कि सब ही मनुष्य राजनीति-धुरन्धर हैं। जस्टिस जेम्स महोदयका कथन है कि "सुशासनके लिये विशेष ज्ञान की, विविध प्रकारकी मानसिक शक्तिके विकासकी और शान्त और संयमयुक्त निर्णयशक्तिकी आवश्यकता है। अज्ञानता और अयोग्यताको जितनी घरेलू काम काजमें टालनेकी जरूरत है उतनी ही राज्यशासनमें भी टालनेकी जरूरत है। अज्ञानता, अयोग्यता और संयमहीनताका जैसा बुरा परिणाम घरेलू कार्यों में होता है, उससे कई गुना अधिक भयकर परिणाम राज्यकार्यों में होता है। मिल और मार्टेस्क महोदयने भी प्रजातन्त्रकी प्रशंसा करते हुए इतना संकेत तो अवश्य किया है कि प्रजातन्त्र वहीं व्यावहारिक रूपसे सफल हो सकता है, जहां की सर्वसाधारण जनता बुद्धि, योग्यता और चरित्रमें ऊंचे दर्जे की हो। बर्क महोदयने प्रजातन्त्रकी कड़ी समालोचना करते हुए लिखा है कि इस शासनप्रणालीमें उत्तरदायित्वहीन लोगोंके हाथमें सत्ता चली जाती है। इससे बड़ा नुकसान होता है।

कुछ लेखकोंने इस शासनप्रणालीकी बुराई दिखलाते हुए लिखा है कि "प्रजातन्त्र कला कौशल, विज्ञान और संस्कृतिके लिये अनुकूल नहीं है।"*प्रजातन्त्रीय सरकार न तो प्रत्यक्ष रूपसे इन्हें उत्तेजना पहुंचाती है और न ऐसी स्थिति उत्पन्न करती है, जिससे अप्रत्यक्ष रूपसे इन्हें प्रोत्साहन मिले।

सुप्रख्यात अंग्रेजी लेखक सर हेनरी मेन और प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० एच० लेकीने प्रजातन्त्रकी कड़ी समालोचना की है।

प्रजातन्त्रकी इन सब अनुकूल और प्रतिकूल समालोचनाओंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रजातन्त्र ही सब शासनप्रणालियोंमें उत्तम है, क्योंकि इसका पाया मानवीय स्वाधीनता और मानवीय समानतापर लगा हुआ है। इससे मनुष्यकी बुद्धि और कार्य्यकारी शक्तियोंके विकासको आश्चर्यकारक उत्तेजना मिलती है। उसकी स्वदेशभक्ति दृढ़ होती है। सारे समाजके हितके लिये शासन होता है। पर साथ ही हम दूसरे मतको भी पसन्द करते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रजातन्त्रकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण जनताका चरित्र ऊंचा हो, उसमें सद्गुणों और संयमका विकास हो। जिस जनतामें योग्यता नहीं, चरित्रबल नहीं, संयम शक्ति नहीं वह प्रजातन्त्रके योग्य नहीं है। बेजिम्मेदार और संयमहीन अयोग्य लोगोंके हाथमें शासन होनेसे लाभके बदले नुकसान होता है। हमारे कहनेका निष्कर्ष यह है कि अगर जनता

* लेस्याले प्रभृति लेखकोंने इस बातका खण्डन किया

योग्य और संयमी हो तो प्रजातन्त्र शासनकी ही सर्वश्रेष्ठ विजय दुन्दुभी बजेगी। इसका क्षेत्र दिनोंदिन अधिकाधिक व्यापक होता जा रहा है। भविष्यमें इसका क्या रूप होगा, इसका उत्तर समयकी परिस्थितिपर ही छोड़ना अच्छा है।

५. व्यक्तिवाद।

व्यक्तिवादी अराजकवादियों (Anarchists) की तरह राज्यको अनावश्यक नहीं समझते। वे किसी न किसी रूपमें समाजकी वर्त्तमान दशामें, राज्यको आवश्यक समझते हैं। हां अराजकवादियोंकी तरह व्यक्तिवादियोंका भी यह मत है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। उनका कहना है कि राज्यका कार्यक्षेत्र जहांतक सम्भव हो, इतना सङ्कीर्ण कर देना चाहिये कि सिवा शान्तिरक्षा, सुव्यवस्था और लोगोंके जानमालकी हिफाजतके उसके अधिकारमें अन्य कोई काम ही न होना चाहिये। व्यक्तिवाद बाहरी रुकावटको अच्छा नहीं समझता और साथ ही उसका यह भी सिद्धान्त है कि जितना अधिक राज्यका कार्यक्षेत्र विस्तृत होता है, उतनी ही व्यक्तिगत स्वाधीनतामें बाधा पड़ती है। व्यक्तिवादका सिद्धान्त है कि मनुष्यमें अहङ्कार, अज्ञानता आदि दोष परम्परागत स्वभावसे रहते हैं और इन्हीं दोषोंके वशीभूत होकर वह अपने निजी स्वार्थके लिये दूसरेके स्वत्वोंपर वार करता है। मनुष्यकी इस कुप्रवृत्तिको उचित सीमासे बाहर न होने देनेके लिये

राज्यकी आवश्यकता है। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च लेखक ज्यूल्स साईमनने तो व्यक्तिवादकी सीमाको बहुत बढाकर यहांतक कह डाला है कि राज्यको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिनसे वह अपने आप बेकाम हो जावे और वह अपनी मृत्युके लिये आप तैयारी करे। विख्यात इतिहासकार फ्रीमैन महोदयने भी लिखा है, "राज्यकी आदर्श पद्धति वह है जिसमें बिलकुल शासन न करना पड़े। सरकारके अस्तित्वका कारण मनुष्यकी अपूर्णता है।" व्यक्तिवादियोंका कथन है कि राज्यका अस्तित्व केवल इसलिये है कि संसारमें अपराधका अस्तित्व है। इसलिये उसका कार्य्य केवल अपराधोंको रोककर शान्ति और व्यवस्था रखना है। अन्य कामोंमें हाथ डालना उसका कर्त्तव्य नहीं। जब राज्य रेल्वे, तार, थियेटर, पुस्तकालय, अजायबघर, बाग बगीचे, स्कूल कालेज आदि कई काम अपने सिरपर ले लेता है तो समझना चाहिये कि वह केवल व्यक्तिकी ही रक्षा नहीं करता है (जिसके लिये कि उसका अस्तित्व है) पर वह उन कार्य्योंमें भी अनुचित रूपसे हाथ डालता है जो कि व्यक्तियोंके करनेके हैं। आजकल शिक्षा, सफाई, टीका, व्यापार और उद्योग धन्धेके जो अनेक काम राज्य अपने हाथोंमें रखता है उन्हें व्यक्तिवादी अच्छा नहीं समझते। साथ ही वे यह भी जोरसे प्रतिपादित करते हैं कि राज्यको व्यक्तियोंके सामाजिक जीवनमें हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। व्यक्तिवादियोंका तो साफ साफ कहना है कि ज्यादा शासनमत

करो।" वे कहते हैं कि राज्यका कार्य्य केवल यही है कि वह शान्ति और व्यवस्था रखे, वादोंको पूरा करवाये, अपराधके लिये सजा दे और जब ये काम हो जावें तब समझ लेना चाहिये कि उसके काम हो चुके। इनके सिवा उसे और कोई काम करना नहीं है।

व्यक्तिवादकी उत्पत्ति और विकास

पाश्चात्य लेखकोंके मतानुसार व्यक्तिवादका उत्पत्तिकाल अठारहवीं सदीका उत्तरार्द्ध है। इस समय यूरोपमें सरकारका शासन बेहद बढ़ा हुआ था। व्यक्तिस्वातन्त्र्यका नामोनिशान नहीं था। इसीसे प्रतिक्रिया शुरू हुई। उसी समय फिजिओक्रेटके अनुयायी अर्थशास्त्रविदोंने यह प्रकट किया था कि राज्यके उद्योग-धन्धोंके लिये किसी प्रकारकी शर्तें डालकर लोगोंके आर्थिक व्यापारमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उसका कार्य्य केवल उन प्रकृतिके नियमोंकी रक्षा करना होना चाहिये, जिनके अन्तर्गत देशकी पैदाइश बढ़े। फिजियोक्रेटके मतानुयायियोंने राज्यकी उच्च सत्तापर भी आक्रमण किया था। उन्होंने उद्योग और व्यापारके लिये, पूर्ण स्वाधीनताके लिये आवाज उठायी थी। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रवेत्ता एडम स्मिथने भी अपने विख्यात ग्रन्थ "Wealth of the Nations" में इस मतका बड़े जोरसे समर्थन करते हुए लिखा था कि राज्यको लोगोंके आर्थिक मामलोंमें हाथ डालनेकी आवश्यकता नहीं। इसके।

बाद रिकार्डो, माल्थस नामक अंग्रेज ग्रन्थकारोंने, थास्टियेट, डे-टॉक्यूव्हेल (De. Tanqueville), डुनायर, लिभानसे, नामक फ्रेन्च लेखकोंने तथा कान्ट (Kant), फिच (Fichte), विलिहेम हमबोल्ट (Wilhelm Humboltdt) आदि जर्मन दार्शनिकोंने भी इसी बातका समर्थन किया था। इन महाशयोंके बाद भी लेबोले (Laboulaye), माईकेल, हर्बर्ट स्पेन्सर, जान स्टुअर्ट मिल्, युम स्मिथ, वर्ड् सवर्थ नामके कितने ही विख्यात महानुभाव इसका बड़े जोरसे समर्थन करते हैं।

सबसे पहले सन् १७९१ में विलिहेम हमबोल्टने एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें उसने बड़े जोरसे यह प्रतिपादन किया था कि "सरकारको जहांतक बन सके कम शासन करना चाहिये। वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है। सरकारका सबसे पहला कर्त्तव्य यही है कि अपने राज्यके व्यक्तियोंके व्यक्तित्वका विकास करे।"

इंग्लैण्डके महान दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर महोदयने व्यक्तिवादका बड़े जोरसे समर्थन किया है। उसका कथन है कि राज्यका अस्तित्व मनुष्यके परम्परागत अहभाव (Egoism) और बदमिजाजी (Perversity) का परिणाम है, अतएव राज्य वास्तवमें राज्यरक्षक होनेसे भी कहीं अधिक भक्षक है। आगे चलकर वह फिर कहते हैं, "चाहे यह बात सत्य हो या न हो कि मनुष्य अधर्मके ढाचेमें ढाला गया है, पर यह बात बिल्कुल सत्य है कि राज्यकी उत्पत्ति आक्रमणसे हुई

है। राज्यकी स्थापना मनुष्यके दुष्प्रकृतिके कार्यों में उचित रोक रखनेके लिये और एक मनुष्यको दूसरे मनुष्यके अत्याचारोंसे बचानेके लिये हुई है, अतएव जब समाज अपनी पूर्ण नैतिक अवस्थापर पहुंच जायगा तब उसे राज्यशासनकी कोई आवश्यकता ही न रहेगी।" स्पेन्सर महोदय कहते हैं, "सरकार तत्वत दुराचारी (Immoral) है। उसका अस्तित्व इसीलिये है न कि अपराधका अस्तित्व है ? क्या अपराधके मिटते ही सरकारको न मिट जाना चाहिये ? .यह ख्याल करना गलत है कि सरकारका अस्तित्व हमेशाके लिये बना रहना चाहिये।"

आगे चलकर स्पेन्सरने यह दिखलाया है कि व्यापार और वाणिज्यके लिये सरकारको कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं। साथ ही क्वारन्टाइन, रजिस्ट्रेशन कानून, अनिवार्य्य शिक्षा आदि काम भी स्पेन्सरके मतानुसार सरकारके नहीं हैं। ये काम लोगोंको अपने आप करनेके हैं। स्पेन्सरके मतानुसार राज्यको केवल वहीं हस्तक्षेप करनेका अधिकार है, जहां किसीके स्वत्वों का अपहरण होता हो।

स्पेंसर महोदयकी तरह अन्य कितने ही विद्वानोंने व्यक्तिवाद का समर्थन किया है। उनका कहना है कि राज्यको व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामें बाधा न देनी चाहिये। उसे इस प्रकार स्वतन्त्र देना चाहिये कि वह अपने जीवन या अस्तित्वके उद्देशोंको अ[illegible] प्रकार समझ सके। जबतक किसी व्यक्तिकी स्वाधीनतासे दूसरों [illegible] बाधा न आवे तबतक राज्यको न्यायत. यह

अधिकार नहीं है कि वह उस व्यक्तिकी स्वाधीनतामें बाधा उपस्थित करे। कांट, फिक्ट, हम्बोल्ड, जान स्टुअर्ट मिल प्रभृति राजनीति विशारदोंने बड़े जोरसे यह प्रतिपादन किया है कि व्यक्तिमें रही हुई सब शक्तियोंका एक साथ विकास करनेके लिये यह आवश्यक है कि उसकी स्वाधीनतामें यथासम्भव न्यूनसे न्यून बाधा डाली जावे; क्योंकि उसकी स्वाधीनतामें जितनी रोक लगी जायगी उतनी ही उसकी उन्नति और स्वावलम्बनकी शक्तियां कम और उसकी जिम्मेदारी निर्बल होगी तथा उसकी शक्तियोंका ह्रास होकर उसका चरित्र छोटा होगा।" जान स्टुअर्ट मिलने भी कहा है कि राजशासनकी ज्यादती (Excess of Government) से व्यक्तिकी मानसिक शक्तिकी वृद्धिमें हानि पहुंचती है और इससे मनुष्यको अपनी निर्णयशक्तिके अनुसार कार्य्य करनेमें बाधा उपस्थित होती है। खुली प्रतिस्पर्धा व्यक्तिकी सर्वोत्तम सम्भावनाओं (Possibilities) का विकास करती है, उसकी उपज बुद्धिको बढ़ाती है और उसमें स्वावलम्बनके भाव पैदा करती है। इसी बातको सामने लाकर व्यक्तिवादी कहते सर्वोत्तम सभ्यताका विकास व्यक्तिवादने ही ... है। जिन लोगोंके कार्य्योंमें राज्यका हाथ रहता है या बात बातमें राज्यकी सहायतापर निर्भर रहते हैं वे कभी नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादियोंका कहना है कि ... संसार, शास्त्र (Science) के गहनतम तत्त्वोंपर निर्भर करता

है। यह [illegible] मेल खाता है। यही एक सिद्धात है जो [illegible] आर्थिक कलहमें योग्यताकी जीत कर-वाता है, [illegible] कहता है कि स्वार्थ (Self-interest) [illegible] सर्वव्यापी तत्त्व है। हर एक मनुष्य जितनी [illegible] अपने कामोंको समझता है उतनी अच्छी तरह कोई [illegible] नहीं समझ सकता। व्यक्तिवाद डंकेकी चोट कहता है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने पैरोंपर खड़ा रहने देना चाहिये, चाहे वह खड़ा रह सके या गिर पड़े। उसे अपना भाग्य बनानेमें राज्यको मदद देनेकी आवश्यकता नहीं। किसी व्यक्तिको बिलकुल अकेला छोड़ देनेसे यह परीक्षा हो जायगी कि वह इस जीवनसंग्राममें जीवित रहनेके योग्य है या नहीं। अगर वह जीवित रहनेके योग्य होगा तो विजय पाकर अपना रास्ता आप निकाल लेगा, नहीं तो उसका अस्तित्व मिट जायगा। इस प्रकार संसारमें योग्य और समर्थ मनु [illegible] व रह [illegible] अयोग्य [illegible] अपने आप [illegible]
[illegible] सदा [illegible] क्योंकि [illegible]
[illegible] का समुदा [illegible]
व्यक्तिवादके [illegible]
[illegible] तीव्र अत्यन्त [illegible]
[illegible] है कि [illegible]
[illegible] परिणाम [illegible]
[illegible], क्योंकि [illegible]

सारी शक्तियों और योग्यताको इनकी तरक्कीमें लगा देता है। इनकी तरक्कीके नये नये मार्ग उसे सूझते हैं। इससे पैदाइश भी ज्यादा होती है और व्यक्तिकी शक्तियोंको आविष्करणका मार्ग मिलनेसे वे खूब फलती फूलती हैं।

अन्तमें व्यक्तिवादी राज्यकी सर्वज्ञताको (Omnicience) स्वीकार नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि व्यक्तियोंकी आवश्यकताओंको जितनी अच्छी तरहसे खुद व्यक्ति समझ सकते हैं, उससे अधिक अच्छी तरह राज्य समझ सकता है। उनके मतानुसार राज्यमें व्यक्तियोंसे अधिक आविष्कारक बुद्धि नहीं है, क्योंकि राज्य भी तो व्यक्तियोंहीसे बना है।

व्यक्तिवादकी समालोचना।

अभीतक हमने वही बातें कही हैं जो व्यक्तिवादके हिमायती इसके समर्थनमें कहते हैं। अब उन लोगोंकी भी बातें सुन लीजिये, जो इसके विरोधी हैं। वे कई तरहोंपर इसका विरोध करते हैं कि व्यक्तिवादियोंका यह कहना ठीक नहीं कि राज्य एक बुराई है। मनुष्यजातिके अबतकके अनुभवमें यह बात नहीं आयी है। इतिहास दिखला रहा है कि सभ्यताके विकासमें अच्छे राज्योंने बड़ी सहायता पहुंचायी है। अतएव राज्य, अगर वह अपना वास्तविक कर्त्तव्य पालता रहे तो निस्सन्देह अच्छी वस्तु है। हां, कभी २ किसी राज्यकी स्वार्थलोलुपताके कारण सर्वसाधारणकी उन्नतिमें बाधा पहुंचती है, पर इससे राज्यसंस्थाको

बुरा कहकर उसका तिरस्कार करना ठीक वैसा ही है, जैसे रेलवे सड़कपर कभी कभी दुर्घटनाओंके हो जानेसे यह कह देना कि इन्हें बनाना ही बुरा है। स्पेन्सरका यह कहना कि अपराधका अस्तित्व होनेहीके कारण राज्यका अस्तित्व है और नैतिक दृष्टिसे परिपूर्ण मानवसमुदायके लिये राज्यकी आवश्यकता नहीं, ठीक नहीं। राज्यके उद्देश केवल अपराधोंकी रोक ही नहीं है, उसके उद्देश इनसे कई दर्जे ऊंचे हैं।

जबतक मनुष्य समुदायमें रहता है, तबतक उसके सामुदायिक अभाव (Collective wants) भी किसी न किसी रूपमें रहते हैं। इनकी पूर्ति राज्यसङ्गठनके ही द्वारा हो सकती है। अतएव यह कहना कि कभी ऐसा समय आयगा कि राज्यकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी, ठीक नहीं। व्यक्तिवादके विरोधी कहते हैं कि आजकल जो चिह्न दिखलायी दे रहे हैं उनसे यह प्रकट होता है कि जैसे २ आधुनिक सभ्यताकी जटिलता (Complexity) बढ़ती जायगी, वैसे २ और भी अधिकाधिक राज्यकी आवश्यकता बढ़ती जायगी। उद्योग धन्धोंके बढ़ जानेसे, शहरोंमें अधिक घनी बस्ती हो जानेसे, सामुदायिक सम्पत्तिके बढ़ जानेसे तथा आर्थिक और सामाजिक स्थितिमें परिवर्तन होनेसे जो स्थिति उत्पन्न हो रही है वह व्यक्तिवादके अनुकूल नहीं। इससे इन वर्षोंमें इसके विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया (Reaction) शुरू हो रही है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक हक्सले महोदयका कथन है कि—"सभ्यताकी स्थिति जितनी ही ऊंची

पड़ती हुई होगी उतनी ही अधिक समाजके व्यक्तियोंकी एक दूसरेपर निर्भरता रहेगी। एक व्यक्तिके कार्य्योंका प्रभाव किसी न किसी अंश और रूपमें दूसरेपर पड़े विना न रहेगा। ऐसी दशामें यह असम्भव हो जाता है कि कोई व्यक्ति किसीकी स्वतन्त्रतामें कम ज्यादा बाधा पहुँचाये विना कोई बुरा काम नहीं कर सकता। ऐसी हालतमें क्या यह बात नहीं कही जा सकती कि व्यक्तिवादियोंका कहना अधिकांशमें ठीक नहीं और किसी न किसी अंश या रूपमें राज्यकी आवश्यकता है।" ले नामक राजनीतिक विद्वानने भी ठीक ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उसका कथन है "जैसे २ सभ्यताकी प्रगति होती जाती है, वैसे २ व्यक्ति एक दूसरेपर या समष्टिरूपसे यों कहिये कि समाजपर अधिकाधिक निर्भर होते जाते हैं। अतएव सभ्यताकी प्रगतिके परिमाणमें राज्यका कार्य्यक्षेत्र भी बढ़ते रहना चाहिये। स्पेन्सर का व्यक्तिवाद आधुनिक समाजकी स्थितिमें उपयुक्त नहीं।

व्यक्तिवादियोंका यह कहना कि सर्वसाधारणकी भलाईके कामोंमें राज्यका हाथ अच्छा नहीं, इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रतामें बाधा पहुँचती है, बहुत ही अल्पांशोंमें सत्य है। व्यक्तिवादके समालोचकोंका मत है कि हर एक मनुष्यके कार्य्यों पर योग्य रोक (Restrictions) रखनेसे सब लोगोंके सम्बन्ध बढ़ते और व्यापक होते हैं, जैसे वृक्षोंमें कलम बाँधनेसे थोड़ेसे फलोंका नुकसान होता है पर अन्तमें अच्छे और बहुत फल उत्पन्न होते हैं यानी इससे आखिर लाभ ही होता है। इसका यहां खुलासा

करना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिके कार्य्यमें उचित रोक रखनेसे सर्वसाधारणकी स्वतन्त्रता घटनेके बदले बढ़ती है। मान लीजिये कि सब व्यक्तियोंको पूर्ण स्वतंत्रता दे दी, उन्हें पूरे तौरसे स्वच्छन्द कर दिये। इसका परिणाम यह होगा कि कितने ही दुष्ट व्यक्ति दूसरोंके स्वत्वोंपर—उनके जानमालपर हमला करेंगे। समाजमें बड़ी अव्यवस्था हो जायगी और समष्टिरूपसे सब व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रतामें बेहद बाधा पहुंचेगी। अतएव व्यक्तिके कार्य्यमें बुद्धिमत्तापूर्वक किसी न किसी अंशमें ऐसी रोक अवश्य होनी चाहिये, जिससे वह दूसरेके स्वत्वोंपर या जानमालपर अन्यायपूर्वक आक्रमण न कर सके।

व्यक्तिवादियोंकी यह कल्पना भी निर्बल आधार रखती है कि राज्य स्वाधीनताका विरोधी है, राज्य और स्वाधीनता परस्पर विरोधसूचक शब्द हैं। राज्यका कार्य्यक्षेत्र जैसे जैसे बढ़ता जाता है, वैसे वैसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता कम होती जाती है, अर्थात् दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि शासनकी अधिकतासे वैयक्तिक स्वाधीनताकी कमी होती जाती है। वास्तविक बात तो यह है कि सुसङ्गठित और उदार राज्यके कार्य्योंसे व्यक्तियोंकी न केवल नैतिक, शारीरिक और बौद्धिक योग्यता ही बढ़ती है, पर साथ ही सबल और स्वार्थी मनुष्योंके द्वारा उनके मार्गमें रखी जानेवाली बाधायें हट जानेसे उनकी स्वाधीनताका मार्ग भी खुला होता है और वे उस हमेशाके झगड़ेसे बचते हैं जो उन्हें राज्य न होनेकी हालतमें उन लोगोंसे करने

हते हैं जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंपर अकारण ही आक्रमण करते हैं।

व्यक्तिवादके विरोधी व्यक्तिवादियोंके इस कथनका खण्डन करते हैं कि सरकारी नियम और कानून व्यक्तिके चरित्रबल (Character) को निर्बल करते हैं। इनका (व्यक्तिवादके विरोधियोंका) कहना है कि यह बात ठीक नहीं। चरित्रबल (Character) का विकास केवल स्वाधीनताहीसे नहीं होता, उसके साथ साथ उचित संयमकी भी आवश्यकता है। व्यक्तिवादके विरोधियोंके मतानुसार यह बात भी ठीक नहीं कि सरकारका कार्य्यक्षेत्र बढ़नेसे वैयक्तिक स्वाधीनता कम होती है और मनुष्य निर्बल एवं परावलंबी बनता है। परिपूर्ण रीतिसे विकास पाया हुआ मनुष्य वही है, जो सामाजिक है। समाजसे बिल्कुल अलग रहनेवाला या यों कहिये कि प्राकृतिक मनुष्य सभ्य नहीं कहलाता। आजकल यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि व्यक्ति अपने चरित्रके विकासके लिये समाजका बहुत कुछ ऋणी है।

व्यक्तिवादमें यह एक भारी दोष है कि वह राज्यनियमों (State regulations) की बुराइयोंको बहुत बढ़ाकर तथा उसके लाभोंको घटाकर बतलाता है, वह स्वाधीनताकी वास्तविक प्रकृति और सीमाको समझनेमें गलती करता है। समाजके साथ व्यक्तिका जो सम्बन्ध है, उसके जाननेमें वह भूल करता है। वह समाजसे अधिक व्यक्तिको महत्व देता है। वह प्राय यह मानकर चलता है कि समाजसे मानों व्यक्तिका सम्बन्ध नहीं

है, और वह समाजसे जुदा किया जा सकता है। उनकी बातों से यह धारणा हुए बिना नहीं रहती कि व्यक्तिके हिताहित समाजके हिताहितसे भिन्न हैं। हम भी मानते हैं कि व्यक्ति केवल समाजका अंग (fraction) नहीं है। वह समाजका जीवन है। जिस प्रकार बिना व्यक्तियोंके, समाजका अस्तित्व नहीं, वैसे ही बिना समाजके मनुष्य मनुष्य नहीं, पर वह एक जंगली जानवर है।

व्यक्तिवादी सरकारके कई दोषोंको, उनके द्वारा की गयी अनेक भूलोंको दिखलाकर सरकारपर अविश्वास प्रकट करते हैं। पर यह बात ठीक नहीं। यह समझना गलत है कि अमुक अमुक सरकारने भूतकालमें अमुक २ भूलें कीं या उसके अधिकारियोंने शक्तिका दुरुपयोग किया, इसलिये सरकारका अस्तित्व ही ठीक नहीं, भविष्यमें उनपर विश्वास करना अनुचित है। यह बात कहना तो ठीक वैसे ही है, जैसे यह कहना कि म्युनिसिपैलिटीके द्वारा बनायी हुई गटरोंसे अगर कभी मोतीजराकी बीमारी फैल जावे तो यह कह देना कि गटर बनानेकी रीति ही खराब है। सरकारोंने भूतकालमें जो भूलें की हैं, या वर्त्तमानमें वे जो भूलें कर रही हैं, उन्हें व्यक्तिवादी बहुत बढ़ाकर दिखलाते हैं, वे उन सबोंको इकट्ठीकर उनकी प्रदर्शनी करनेका प्रयत्न करते हैं। हकमले महोदयका कथन है,—"राज्य काचके बने हुए महलमें रहता है। वह क्या करता है सो हम सब देखते हैं। उसकी सब असफलतायें

सम्पूर्ण या असम्पूर्ण रूपसे दृष्टिगोचर हो जाती हैं और वे बहुत बढ़ाकर सामने लायी जाती हैं। इसके विपरीत खानगी लोगों-के काम ईंट और चूनेकी दीवारोंके अन्दर आश्रय पाते हैं। सर्व-साधारण शायद ही जान पाते हैं कि अमुक अमुक व्यक्ति क्या कर रहे हैं। हां, उनकी वे भूलें अलबत्ता प्रगट हो जाती हैं जो बड़ी गम्भीर होती हैं।" लार्ड पेमब्रोकका कहना है कि जिस प्रकार राज्यकी भूलें इकट्ठी कर दिखलाई जाती हैं, वैसे ही व्यक्तियोंकी दिखलायी जावें तो वे अधिक होंगी।

व्यक्तिवादी कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जितनी अच्छी तरह अपना हिताहित समझ सकता है, उतनी अच्छी तरह राज्य नहीं समझ सकता। स्वतः व्यक्तिही अपने हितका सबसे अच्छा निर्णयकर्त्ता (Judge) हो सकता है। अगर व्यक्ति खुद अपने आपपर छोड़ दिया जावे तो वह अपने हितकी पूर्ति अच्छी तरह कर सकेगा। यह बात यद्यपि कुछ अंशोंमें सत्य है पर सर्वांशमें सत्य नहीं। मिल, सिजविक जैसे व्यक्तिवादियों ने भी यह स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक आविष्कारोंकी वृद्धिके कारण जैसे जैसे जीवनके सरञ्जाम अधिकाधिक जटिल और दुष्कर होते जाते हैं, वैसे वैसे श्रमविभागकी दृष्टिसे भी आदमीको अपने जीवनोद्देशके साधन जाननेके अवसर कम होते जाते हैं, वैसे वैसे प्राकृतिक विकासके मार्ग रुकते जाते हैं और शक्तियोंका ह्रास होना जाता है। एक बेल्जियम लेखकका कथन है कि अगर प्रत्येक व्यक्ति अपना हिताहित

स्वत्व और कर्त्तव्य भली प्रकार निर्णय कर सके और वही काम करे जो वस्तुत उसे करना चाहिये तो फिर राज्यके हस्तक्षेपकी आवश्यकता ही उठ जायगी और हम पूर्ण स्वाधीनताके राज्यमें रहने लगेंगे। यद्यपि यह बात कई अशोंमें ठीक है, पर क्या यह सम्भव हो सकती है? क्या अज्ञानी लोग उन भूलों और भयका प्रतिकार स्वत कर सकते हैं, जिनसे वे अज्ञान हैं? अज्ञानताके कारण कहिये या और अन्य किसी कारणसे कहिये, कितने ही लोग अपने हिताहितको अच्छी तरह नहीं समझते, अतएव राज्यको उनके हितोंकी रक्षा करनी पड़ती है। बच्चेको टीका न लगानेसे उसके जानकी जोखिम है, इस बातको कितने ही मातापिता नही जानते या जानते हुए भी वे अपने बच्चेको टीका लगाना पसन्द नहीं करते। ऐसी दशामें उन बच्चोंके हितके लिये या यों कहिये कि समाजके हितके लिये सरकारको अनिवार्य्य टीका लगानेका नियम बनाना पड़ता है। कितने ही मातापिता शिक्षाके महत्वको नहीं समझते, वे अपने बच्चोंको पढ़ाना पसन्द नहीं करते तो क्या ऐसी दशामें यह कहा जा सकता है कि ये लोग अपने हितको अच्छी तरह समझते हैं? क्या ऐसी दशामें राज्यका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह उनके उन हितोंको समझकर, जिन्हें वे अज्ञानताके तथा अन्य किसी कारणसे नहीं समझते हैं, अनिवार्य्य शिक्षाका नियम जारी कर दे? इसमें क्या बुराई है? इसमें कौनसी स्वाधीनताका नाश होता है? शराब पीना बुरा है, इससे व्यक्तिको शारी-

रिक और मानसिक शक्तियोंका ह्रास होता है, इसके भयङ्कर परिणाम सारे राष्ट्रपर पड़ते हैं। पर तोभी कितने ही लोग अज्ञानताके कारण कहिये या आदतके गुलाम होनेके कारण कहिये खूब शराब उड़ाते हैं। कितने ही अपना कमाया हुआ धन इसमें बरबाद कर देते हैं। ऐसी दशामें व्यक्तियों और राष्ट्रके हितके लिये राज्य शराब रोकनेका कोई कानून बनावे तो इसमें क्या बुराई है? और इसमें यह व्यक्तिकी स्वाधीनतामें कौनसी अन्याय पूर्ण बाधा डालना है? मतलब यह है कि ऐसी कितनी ही बातें हैं जिनमें व्यक्ति अपना हिताहित या तो अज्ञानताके कारण नहीं समझता है या समझता भी है तो अपने ऐहिक सुख और विषय लोलुपतामें उसे भुला देता है। ऐसी दशामें राज्य उसके हिताहितके कार्योंमें उचित निगाह रखे तो इसमें क्या अनुचित है?

साम्यवाद।

साम्यवाद उस सिद्धान्तका नाम है जो वर्तमान राजनीतिक और औद्योगिक वस्तु स्थितिमें आवश्यक परिवर्त्तन द्वारा आर्थिक असमानताको दूर करना चाहता है। देखते हैं, कि इस संसारमें एक ओर तो लक्षपति और करोड़पति अनुपमेय विलासिताका जीवन व्यतीत करते हैं, और दूसरी ओर हजारों गरीब घोर दरिद्रता और अन्धकारमें अपने दुःखमय जीवनको बिता रहे हैं। एक ओर तो लोग रबरटायर गाड़ियोंमें और मोटरोंमें बैठे आनन्दसे सुबह और शाम हवा खाने जाते हैं और दूसरी

ओर करोड़ों अभागे पेटज्वालासे जलते हुए जेठकी कड़ी धूपमें नगे सिर और नंगे पैर डोलते फिरते हैं। एक ओर तो कुछ लोग तरह तरहके पकवान उड़ाते हैं और दूसरी ओर लाखों करोड़ों लोग भूखके मारे तड़प तड़पकर प्राण देनेमें बाध्य होते हैं। एक ओर तो कुछ लोग खसकी टट्टियोंके भीतर पड़े पड़े आराम से खर्राटे लेते हैं और दूसरी ओर बेचारे लाखों करोड़ों मनुष्यों को वैसाखकी जलती हुई लूमें खेतों और खलियानोंमें काम करना पड़ता है। एक ओर तो कुछ धनिक अफसर, या राजा और महाराजा नाच मुजरों, विवाह शादियों, उत्सवों और दाव तोंमें पानीकी तरह रुपया नष्ट करते हैं दूसरी ओर लाखों करोड़ों मनुष्योंको अपनी या अपने बाल बच्चोंकी शिक्षा, अपनी शक्तियोंके विकास और अपनी कार्यक्षमता बढ़ानेके लिये भी साधन प्राप्त नहीं होते। अपनी गरीबीके कारण वे अपनी शारी- रिक, मानसिक और नैतिक उन्नति नहीं कर सकते। धनहीनता उनकी वृद्धिमें रुकावट डालती है। उनकी शक्तिया अविकसित रह जाती हैं और वे इस ससारसे अकालहीमें कूच कर जाते हैं। अकाल और महामारिया सदा उनके लिये मुंह बाये खड़ी रहती हैं। उनकी मृत्युसख्या धनिकोंसे तिगुनी होती है। उन्हें पापी पेटकी ज्वाला शान्त करनेके लिये नाना प्रकारके अपराध और पाप करनेको, आत्माका हनन और दण्ड भोगनेको विवश होना पड़ता है। दिन रात कठोर परिश्रम करनेपर भी गरीबों को नारकीय यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती हैं और अमीर बिना हाथ

पैर हिलाये ही स्वर्गीय सुखोंका भोग करते हैं। यह सब किस लिये? इसलिये नहीं कि वे मनुष्य नहीं, उनके हाथ पाँव या बुद्धि नहीं, पर केवल इसलिये कि एक धनी है और दूसरा निर्धन। साम्यवादी ऐसी दुरवस्था उत्पन्न करनेवाली राजनीतिक और औद्योगिक परिस्थितियों, सामाजिक बन्धनों और अड़चनोंमें सुधार करना चाहते हैं। प्रोफेसर एली महोदयका कथन है कि साम्यवादी वे हैं जो समाजका इस तरह संगठन करना चाहते हैं जिसमें वर्तमान आर्थिक असमानता दूर हो जाये और मनुष्य-समाजका सामुदायिक रूपसे आर्थिक विकास हो। सारांश यह है कि साम्यवादी वे हैं जो उस समाज-सङ्गठनको और राज्यप्रणालीको चाहते हैं जिसमें कि उद्योग धन्धोंका स्वामित्व व्यक्ति या व्यक्तियोंके हाथमें न रहकर सारी जनता या जनतासे बनी हुई सरकारके हाथमें रहे।

जहां व्यक्तिवादी राज्यके कार्यक्षेत्रको केवल शान्तिरक्षातक ही परिमित रखना चाहते हैं, वहां साम्यवादी राज्यके कार्य क्षेत्रको हर बातमें विस्तृत करना चाहते हैं। उनका मत है कि राज्यका कार्य केवल शान्तिरक्षा या शासनप्रबन्ध करना ही नहीं है पर लोगोंकी आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करना भी है। कितने ही साम्यवादियोंके मतानुसार राज्यका यह कर्त्तव्य है कि वह प्रजाके मनुष्योंको योग्य कार्य मिलनेकी ग्यारंटी दे, आवश्यकता पड़नेपर उन्हें बिना ब्याजके रुपये दे, उनके लिये आरोग्यशाली घर बनावे, उनके लिये

व्यवसाय करे तथा उनके आराम और सुभीतेके लिये हर प्रकार का प्रबन्ध करे। अमेरिकाके संयुक्तप्रदेशके कई साम्यवादियोंने अपने राष्ट्रीय प्लेटफार्मपर यह कहा था कि सब प्रकारके माल उत्पन्न करनेके यन्त्र, खानें, रेलवे, तार, टेलीफोन, गैसवर्क्स, नहरें आदि सबपर राष्ट्रीय सरकारका अधिकार रहे। ये सब सर्वसाधारणकी जायदाद समझी जावें। इनके नफे नुकसानमें सर्वसाधारण हिस्सेदार हों। किसी आविष्कारके लाभपर किसी व्यक्ति-विशेषका अधिकार न रहकर सर्वसाधारणका रहे। राष्ट्रीय सरकार गरीब लड़कोंके लिये अन्न, वस्त्र और पुस्तकों का प्रबन्ध करे तथा शिक्षाका मुफ्त और अनिवार्य प्रचार करे। बेरोजगारियों और निठल्लोंके लिये योग्य मजदूरी या कामका प्रबन्ध करे।

साम्यवादके पक्षमें जो दलीलें दी जाती हैं उनमें मुख्य ये हैं कि आजकलके आर्थिक संगठनमें मजदूरोंको-गरीबोंको—अपने परिश्रमका योग्य फल नहीं मिलता, इनके परिश्रमका अधिकांश भाग पूंजीवाले हड़प कर जाते हैं। इन बेचारोंको बहुत कम मिलता है। पूंजीवाले दलाल या कारखानोंपर देखरेख करने वाले मनुष्योंकी जेबें तो खूब भर जाती हैं और दिन रात कड़ा परिश्रम करनेपर भी बेचारे ये दरिद्रोंके दरिद्री ही बने रहते हैं। मतलब यह है कि साम्यवादियोंके मतानुसार आजकलका आर्थिक संगठन धनवान या पूंजीवालोंके लिये ही लाभकारक है। इसमें अर्थके बटवारेकी बड़ी असमानता है। इसमें ऊंचे

बढ़नेके जितने अवसर धनवानोंको हैं, उनके शतांश भी सम्पत्तिके असली उत्पादक मजदूरोंको नहीं हैं। इस आधुनिक आर्थिक सङ्गठनमें धनवानोंके पास मजदूरोंको लूटनेके अनेक साधन हैं। जब लाखों मजदूरोंके गलेपर छुरी चलती है तब एक आदमी करोड़पति होता है। इन सब स्थितियोंको देखकर साम्यवादी कहते हैं कि संसारके सबसे अधिक मनुष्योंके सबसे अधिक हित और कल्याणके लिये(Greatest good of the greatest number)यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय राज्य जमीन और पूंजीपर तथा पैदाइश (Production) के साधनोंपर अधिकार कर ले। इससे आज लाखों करोड़ों जनताका जो लाभ मुट्ठीभर पूंजीवाले खा जाते हैं वह सारी जनताको मिलता रहेगा और समाजमें आज जो भयङ्कर विषमता दिखाई देती है वह नहीं रहेगी।

आजकल व्यक्तिवादके भावोंके कारण इतनी भयङ्कर प्रतिस्पर्धा चल रही है कि जो लोग औद्योगिक या साम्पत्तिक दृष्टिसे निर्बल हैं उनकी कहीं दाद नहीं लगती। उनके लिये सफलताके बहुत कम साधन हैं। वे कितने ही योग्य होनेपर भी धनवानोंके मुकाबलेमें खड़े नहीं हो सकते। इस स्थितिमें गरीब तो अधिक गरीब होते जाते हैं और धनवान अधिकाधिक धनवान होते जाते हैं। अर्थात् दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि आधुनिक आर्थिक सङ्गठन भरेको अधिक भरता है और खालीको और भी खाली करता है। साम्यवादियोंका कहना

है कि इन्हीं सब खराबियोंसे साम्यवादकी उत्पत्ति हुई है और न्याय तथा सत्यपर इसकी नींव पड़ी हुई है। उनका कथन है कि भूमि, खनिज धातु आदिपर सबका एकसा अधिकार होना चाहिये। ये सब ईश्वर-प्रदत्त हैं, जो सारी मनुष्य-जातिको दी गयी हैं। जिस प्रकार वायु, सूर्यप्रकाश और जलपर सबका एकसा अधिकार है वैसे ही इनपर भी होना चाहिये।

आधुनिक आर्थिक सङ्गठनमें जिस प्रकारकी प्रतिस्पर्धा चल रही है उसमें निर्बलोंका तो पूरी तरह घात होता है। इस अनियमित प्रतिस्पर्धासे एक ओर वेतनकी कमी होती जाती है और दूसरी ओर बेरोजगारियोंकी संख्या बढ़ती जाती है। इस स्थितिसे समाजकी सामुदायिक रूपसे जो हानि होती है, वह अवर्णनीय है। अगर यह स्थिति ज्यों की त्यों चलती रही तो संसारकी सभ्यताको नाशकारी धक्का पहुँचेगा। संसारकी इस आनेवाली भयंकर स्थितिसे रक्षा करनेके लिये साम्यवादी संसारमें रही हुई भयंकर आर्थिक विषमताको मिटाना ही एक-मात्र रामवाण उपाय समझते हैं। वे कहते हैं कि इसके लिये प्रतिस्पर्धाका अन्त कर उसके स्थानपर सहकारी तत्त्व(Cooperative principle) को स्थान देना चाहिये। इस सहकारी तत्त्व से लोगोंको अपनी उन्नतिके लिये समान अवसर मिलेंगे। इससे वैयक्तिक चरित्र और बलका अपूर्व विकास और सच्ची स्वाधीनताका आविष्करण होगा। आजकलकी औद्योगिक प्रतिस्पर्धा जड़वाद (Materialism) और अप्रमाणिकताको जन्म देती

। इससे वैयक्तिक चरित्र (Individual character) की इयत्ता (Standard) गिरती है। मानवीय स्वभाव निसर्गत हो निर्बल है, नष्टनाको भोर यह सहजतया प्रवृत हो जाता है और आधुनिक आर्थिक विषमता उसे और भी अधिक भ्रष्ट करती है। अतएव राज्यका आद्य कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यकी इन सब प्रकार बुराइयोंसे रक्षा करे और उसे योग्य मार्ग दिखलावे।

साम्यवादका सिद्धान्त राज्यके सावयव सिद्धान्तसे बहुत कुछ मेल खाता है। जिस प्रकार सावयव सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि समाज एक शरीर (Organism) है, जिसमें प्रत्येक अवयवको सारे शरीरके लिये काम करना पड़ता है, वैसे ही साम्यवादके मतानुसार व्यक्तिको अपने वैयक्तिक लाभको उपेक्षाकर सारे समाजके लिये काम करना चाहिये, अर्थात् साम्यवाद सबसे अधिक मनुष्योंके सबसे अधिक हितकी घोषणा करता है।

साम्यवादी कहते हैं कि राज्यने कई क्षेत्रोंमें प्रतिस्पर्धाका नाशकर उसके स्थानमें सरकारी तहत्की स्थापना कर दी है। सरकार पोस्टका इन्तजाम करती है, सिक्के ढालती है और भी कई प्रकारके काम करती है। इसमें उसे सफलता भी हुई है। इसी प्रकार सरकार सब औद्योगिक काम अपने हाथमें लेकर संगठित क्यों नहीं करती ? क्यों नहीं वह ऐसा प्रबन्ध करती जिससे संसारके उद्योग धन्धोंकी नींव न्याय और सत्यपर पड़ कर प्रत्येक मनुष्यको अपने परिश्रमका योग्य फल मिले। सामु-

दायिक स्वामित्व और व्यवस्था पूर्णरूपसे प्रजातन्त्रके सिद्धान्तों पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि इसका पाया नैतिक और परोपकारी तत्त्वोंपर जमा हुआ है। इससे समाजमें न्यायतत्त्वका विकास होकर वैयक्तिक और सामाजिक अभिवृद्धिको बड़ी सहायता मिलेगी।

साम्यवादकी समालोचना।

अबतक वेही बातें कही गयी हैं, जो साम्यवादके पक्षकी हैं। अब उन बातोंको भी सुन लीजिये जो इसके विरुद्ध कही जाती हैं। जो लोग साम्यवादके विरोधी हैं उनका कहना है कि साम्यवाद मानवी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। वह अव्यवहार्य और अधिकांशमें असम्भव है। अगर यह भी मान लिया जावे कि भूमि, कारखाने, उद्योगधन्धे आदिके वैयक्तिक स्वामित्वकी जगह समाज या राष्ट्रीय राज्यका स्वामित्व स्थापित किया जाना सम्भव भी हो जावे तोभी इससे लाभके बदले हानि अधिक है। इससे मानवीय परिश्रम, मानवीय बुद्धि और मानवीय प्रतिभाका विकास करनेवाले साधनोंका नाश हो जायगा। मनुष्य किसी न किसी स्वार्थको लिये हुए कार्य करता है। जैसे जैसे उसे अपने कार्यमें अधिकाधिक सफलता होती जाती है वैसे वैसे वह अधिकाधिक उत्साहसे काम करता है। इससे उसकी बुद्धि, प्रतिभा, कार्यकर और प्रवर्तक शक्तिको अपूर्व उत्तेजना मिलती है। अगर मनुष्यको अपने किये हुए परिश्रमका, अपनी बुद्धि और प्रतिभाके उपयोगका फल न मिलेगा, तो वह पूर्ण

परिश्रम क्यों करने लगेगा ? क्यों वह अपनी विवेकशक्तिको नष्ट करेगा। मानवीय प्रकृतिमें यह बात नहीं है कि वह जबरदस्ती दूसरोंके लिये काम करना पसन्द करे। इससे मनुष्य-की कार्यकारी शक्तिको धक्का पहुंचता है, उसकी प्रवर्त्तक शक्ति (Incentive power) का ह्रास होता है।

दूसरी बात यह है कि संसारमें कभी पूर्ण समानता स्थापित नहीं हो सकती। यह बात प्रकृतिके नियमके खिलाफ है। दो वृक्षोंके फल समान रूपसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते। दो पशु या दो मनुष्य बुद्धि, प्रतिभा या योग्यतामें समान नहीं हो सकते। थोड़ी बहुत विषमता रहती ही है। उग्र साम्यवाद प्रकृतिके नियमके खिलाफ है। निरक्षर और विद्वान, मूर्ख और बुद्धिमान, अल्पमति और प्रतिभावान, आलसी और परिश्रमी मनुष्य-की बराबरी कैसे हो सकती है ? अगर इस प्रकारकी बराबरी करनेका प्रयत्न किया जायगा तो बड़ा अन्याय होगा। इससे मनुष्यकी उन शक्तियोंको धक्का पहुंचेगा जो संसारकी सभ्यताका जीवन हैं। दूसरी बात यह है कि जबतक मनुष्यकी प्रकृति वैसी ही बनी रहेगी, जैसी कि वह इस वक्त है तबतक साम्यवादकी पूर्ण सफलता होना कठिन है। इन्हीं सब बातोंका ख्यालकर कुछ साम्यवादियोंने अन्य सिद्धान्तवादियोंके साथ समझौता कर ये बातें निश्चित की हैं —

१—प्रत्येक मनुष्यको अपनी आवश्यकतानुसार द्रव्य मिलना चाहिये।

२—प्रत्येक मनुष्यको अपने परिश्रमके अनुसार द्रव्य मिलना चाहिये।

३—प्रत्येक मनुष्यको अपनी योग्यताके अनुसार द्रव्य मिलना चाहिये।

इन लोगोंका कहना है कि जब मनुष्यकी आवश्यकता, परिश्रम और योग्यता तीनों बातोंका ख्यालकर द्रव्यका बटवारा होगा तब वे सब कठिनाइयां दूर हो जायगी जो अभी सामने लायी जा रही हैं। पर इसपर भी यह दलील की जा रही है कि मनुष्यकी आवश्यकता, परिश्रम और योग्यता किस पैमानेसे मापी जायगी। इस प्रकारकी कितनी दलीलें की जाती हैं जो साम्यवादके विरुद्ध कही जाती हैं। साम्यवादके कई भेद हैं। उनमेंसे कुछपर हम अगले अध्यायमें विचार करेंगे।

अराजकवाद।

अराजकवाद शब्द ही अपने उद्देश्यको स्पष्ट कर देता है। इसका सिद्धान्त है कि समाजपर किसी प्रकारका भीतरी या बाहरी नियन्त्रण न होना चाहिये। यह सिद्धान्त नवीन नहीं, जबसे मनुष्यके, मनमन्दिरमें स्वाधीनता देवीका आह्वान होने लगा है, जबसे मानवहृदय स्वाधीनताकी-झकारसे गूंजने लगे हैं, तभीसे इसका अस्तित्व प्रकट हुआ है और इसी कारण,संसारका कोई भी देश इसकी कल्पनासे वंचित नहीं। इस सिद्धान्तके प्रसिद्ध प्रवर्तक प्रोढनका कथन है कि एक व्यक्तिका दूसरे

व्यक्तिपर शासन करना घोर अन्याय है। आगे यही फिर कहता है कि "समाजकी वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब अराजकता और सुव्यवस्था परस्पर एकत्रित हो जाय।"

राजकीय दृष्टिसे यह अराजकवाद अति प्राचीन है। परन्तु इसके आधुनिक स्वरूपमें राजकीय सिद्धान्तोंके साथ साथ कुछ साम्पत्तिक सिद्धान्तोंका भी समावेश हो गया है। इसके साम्पत्तिक सिद्धान्तोंके अनुसार समाजकी भावी व्यवस्थामें जमीन एव उद्योग धन्धोंके साधनोंका स्वामित्व वैयक्तिक न रहकर सामुदायिक रहना चाहिये। इसी कारण अराजकवादको साम्यवादका एक अङ्ग भी कह सकते हैं।

प्राचीन साम्यवादियोंने अपने ग्रन्थोंमें इसका विवेचन किया है अवश्य, पर स्वतन्त्ररूपसे इस सिद्धान्तकी घोषणा एव प्रचार करनेवाला बाकुनिन नामक एक रूसी नेता था। उसके सिद्धान्त साम्यवादी सिद्धान्तके पुरोगामी स्वरूप कहे जा सकते हैं। बाकुनिनके विचारोंके अन्तर्गत आदिसाध्य और अन्तिम साध्यमें कोई अन्तर नहीं, अत इसके बहुतसे विचार अव्यवहार्य समझकर छोड दिये गये हैं।

अराजकवादपर कुछ कहनेके पूर्व उसके संस्थापकके जीवन सम्बन्धी कुछ घटनाओंका उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि उसके विचारोंके साथ उसके जीवनका विलक्षण साम्य है। इसका सारा जीवन सामयिक शासनसे युद्ध करनेमें ही व्यतीत हुआ। रूस जैसी एकतन्त्री और अनियन्त्रित भूमिपर सारी

शासनसत्ताके विरोध करनेवाले किसी महापुरुषका जन्म होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं। यह तो प्रकृतिका नियम ही है कि जहांपर जितना ही भयानक रोग होगा, औषधि भी वहां उतनी ही चमत्कारिक होगी।

बाकुनिनका जन्म १८१४में रूसके एक उच्च कुलके अन्तर्गत हुआ था। शिक्षा समाप्त होनेपर उसने तोपखानेके एक अफसरकी हैसियतसे सैनिक विभागमें प्रवेश किया था। उन दिनों यह पद बहुत श्रेष्ठ समझा जाता था और कुछ खास खास आदमियोंको छोड़कर बाकीको मिलना असम्भव था। नियुक्त होते ही वह पोलैंड भेजा गया। उस समय पोलैंडकी प्रजापर रूसी सरकारके राक्षसी अत्याचार होते देख उसके हृदयपर गहरी चोट पहुंची और उसने किसी भी तरह ऐसी अत्याचारी सरकारसे सहयोग रखना उचित न समझकर तुरत अपने पदसे इस्तीफा दे दिया। इसके पश्चात् कुछ समयतक वह भिन्न भिन्न विषयोंके अध्ययनमें संलग्न रहा। सन् १८४७ में वह पेरिस गया, जहांपर कि प्रोढनसे उसकी मित्रता हो गयी और उसने उसीसे सामाजिक अराजक पथके सिद्धान्तोंकी दीक्षा ली।

सन् १८४८ में जब सारा यूरोप क्रान्तिकी भारी लहरसे कांप उठा था, बाकुनिनको अपने विचारोंके अनुसार कार्य करनेका अच्छा अवसर मिला। वह तन, मनसे उस क्रान्तिमें सम्मिलित हो गया। सेक्सनीके ड्रेस्डेन नामक नगरमें जो उपद्रव हुआ था, उसमें उसका पूरा हाथ था। प्रारम्भमें उपद्रवकारियोंकी विजय

हुई और कुछ समयतक वे उसपर स्वतन्त्र प्रजातन्त्र स्थापि
कर शासन करते रहे। पर कुछ ही समय पश्चात् प्रशियन स
कारकी सेनाने उस नगरपर चढ़ाई की। यद्यपि बाकुनिन
प्रोत्साहित करनेपर बलवाइयोंने उस फौजका सामना किया प
अन्तमें वे पराजित हुए। बाकुनिन शत्रुके हाथ गिरफ्तार हुअ
और आठ वर्षतक कठिन कारावासमें कष्ट उठाता रहा। स
१८५० में प्रशियन सरकारने उसे फांसीकी सजा दी, लेकि
उसी समय आस्ट्रियाकी सरकारने उसे माग लिया और पा
महीने पश्चात् वह आस्ट्रियाके सुपुर्द कर दिया गया। आस्ट्रिय
सरकारने भी पहले तो उसे फासीका हुक्म दिया, पर बाद
उस आज्ञाको बदलकर आजीवन कारावासका दण्ड दिया
आस्ट्रियाके कारावासमें उसे घोर यन्त्रणाएं सहनी पड़ीं। उसं
हाथ पैर भारी जञ्जीरोंसे जकड़ दिये गये थे। गलेमें भी ए
वजनदार जंजीर डाली गयी थी, जिससे वह कई बार खम्भों
बाधा गया। कुछ महीनोंके पश्चात् रूसी सरकारने उसे मा
लिया, जिससे वह शीघ्र ही रूस भेजा गया। वहा भी वह कष्टों
खाली न रहा। यहातक कि बीमारीके मारे उसके सब दांत गि
पड़े और पाचनशक्ति बिगड़ गयी। यद्यपि इन सब यन्त्रणाओं
उसका शरीर कृश हो गया था, पर मन वैसा ही गभीर, अट
पद विप्लवी बना हुआ था। जेलखानेमें भी उसे हमेशा यह चिन्त
लगी रहती थी कि "कहीं मेरे अन्तःकरणकी यह द्वेषवृ
लुप्त न हो जाय। यह अग्नि जो उस शासनसत्ताको भस

करनेके लिये प्रज्वलित हुई है बुझ न जाय। अत्याचारियोंके प्रति कहीं दया उत्पन्न न हो जाय।" पर उसकी यह चिन्ता निर्मूल थी, उसका यह निश्चय एक क्षणके लिये भी विचलित न हुआ। जिस उद्देश्यको लेकर वह जेलमें प्रविष्ट हुआ था, उसीके साथ वह वहांसे बाहर निकला।

जिस समय बाकुनिन जेलखानेमें था उसी समय जार निकोलसका स्वर्गवास हो गया और द्वितीय एलेक्जेंडर सिंहासनारुढ़ हुआ। वह कुछ उदार स्वभावका था। उसने कई राजनीतिक कैदियोंको मुक्त कर दिया। यद्यपि उस रिहाईको सूचीमें बाकुनिनका नाम भी था पर जारने उसे अपने हाथसे काट डाला। जब पुत्रशोकसे विह्वल बाकुनिनकी माताने बाकुनिनकी मुक्तिके लिये जारसे प्रार्थना की तब जारने उसके उत्तरमें यही कहा कि बाकुनिनको छोडना खतरनाक है, सरकारसे द्वेष करनेके कारण वह जेलमें ठूंसा गया है, पर आश्चर्य है कि अभीतक उसके भावोंमें लेशमात्र भी परिवर्त्तन नहीं हुआ।

सन् १८५७ में वह साइबेरिया भेज दिया गया। सौभाग्यसे वहाका गवर्नर उसका सम्बन्धी था जिसके कारण वह वहा बड़े आरामसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगा। चार वर्षतक वहा रहनेके उपरान्त वह वहासे भाग गया और कई प्रकारके कष्ट सहन करता हुआ अमेरिका होकर १८६१ में इंग्लैण्ड पहुचा। तदनन्तर उसने अपना सम्पूर्ण जीवन अपने मतका प्रचार करनेमें ही व्यतीत किया। पर फिर भी उसे

जेलकी हवा खानी पड़ी। सन् १८६७ में उसने "प्रजा सत्तात्मक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय समिति" (International alliance of Socialist Democracy) स्थापित की। बीचमें कुछ समय-तक वह इटलीमें भी रहा था। उसने वहांपर मेजिनीके विरुद्ध मज़दूर लोगोंको अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्यका उपदेश दिया था। वहां उसने एक समिति भी स्थापित की थी। सन् १८६६ में वह मार्क्सके अन्तर्राष्ट्रीय संघमें सम्मिलित हो गया।

इसके दूसरे वर्ष फ्रेंच-जर्मन-युद्धमें जब दूसरे नेपोलियनकी बादशाहतका अंत हो गया तब उसने लियान्समें पेरिसके कम्यूनके समान प्रजासत्तात्मक राज्यप्रणाली स्थापित करनेका प्रयत्न किया पर उसमें वह असफल हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय संघमें भी उसके उग्र विचारोंके कारण लोग उसके विरुद्ध थे। अन्तमें सन् १८७२ में वह मताधिक्यसे संघके बाहर कर दिया गया। यद्यपि कैदखानेके असह्य कष्टोंके कारण उसका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था, पर तोभी उस महापुरुषने अपने संकल्पोंका प्रचार करनेमें तनिक भी आलस्य न किया। मरते दमतक वह उसमें प्रयत्नशील रहा। इस प्रकार अपने जीवनको लोकसेवाकी वेदीपर अर्पित कर यह महात्मा क्रान्तिकारियोंकी आश्रयभूमि स्विट्जरलैंडके बर्न नगरमें स्वर्गगामी हुआ।

बाकुनिनने "ईश्वर और राष्ट्र" (God and the State) नामक एक ग्रन्थ लिखा है। उसकी प्रस्तावनामें उसके दो अभिन्न-हृदय मित्र "कैफिरो" और "रेलिसी" लिखते हैं —

"बाकुनिनके शत्रु और मित्र सभी लोग इस बातको भली प्रकार जानते हैं कि अद्भुत विचारशक्ति, दृढ निश्चय और अपूर्व कार्योत्साह आदि गुण इस महापुरुषमें कूट कूटकर भरे हुए थे। सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि क्षुद्र लाभोंको, जिनको प्राप्त करनेके लिये जनसमाज दिनरात व्यग्र रहता है, इसने हमेशा घृणाकी दृष्टिसे देखा है। ऊसके ऊंचे कुलमें जन्म लेनेपर भी उसने ऐश आराम, स्वार्थ आदि अवगुणोंसे अलग रहकर समाजको निर्दोष करनेका बीडा उठाया था। क्षणभरके लिये भी उसने कभी अपने सुख और स्वार्थकी ओर दृष्टिपात नहीं किया। अपने जीवनमें देशत्याग, कारागृहवास आदि अनेक कठिनाइयोंका सामना करनेपर भी वह अपने उपदेशसे विचलित न हुआ।

बाकुनिनका सारा जीवन अस्वस्थताहीमें व्यतीत हुआ, इसी कारण उसे अपने मतका विस्तृतरूपसे विवेचन करनेको समय ही न मिला। उसका यही एक ग्रन्थ (ईश्वर और राष्ट्र) प्रकाशित हुआ, और वह भी अधूरा। बाकुनिनने भी एक बार यह लिखा था कि, "मेरा जीवन ही अधूरा है।"

बाकुनिनके विचार अत्यन्त पुरोगामी और क्रान्तिकारक थे। हर एक प्रकारकी बाह्यसत्ताका वह कट्टर विरोधी था। वह ईश्वरसे लेकर छोटीसे छोटी शक्तियों एवं समस्त आदर्श व्यवस्थाओंको अस्वीकार करता था। वह कहता है कि सृष्टिके नियमोंका पालन करने ही पर मनुष्यकी स्वतन्त्रता रक्षित रह

मानता है। क्योंकि प्रकृतिके इन नियमोंको वह स्वयं ही स्वीकार करता है। मानवीय या ईश्वरीय किसी भी कारणसे और बाहरी और पराई इच्छासे उन नियमोंको स्वीकार करनेके लिये वह बाध्य नहीं। ये नियम तो अपनी इच्छासे ही बनाये गये हैं, बाकुनिनके मतमें उपरोक्त नियमोंके द्वारा समाजके व्यक्तिस्वातंत्र्य सम्बन्धी प्रश्न सहज ही हल हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको सृष्टिनिरीक्षण और शास्त्राभ्यासके द्वारा प्रकृतिके नियमोंकी जानकारी प्राप्त करके संसारमें उसका प्रचार करना चाहिये। समाजका प्रत्येक व्यक्ति जब इन नियमोंको जान लेगा तब वह उनका पालन करेगा। मनुष्य सृष्टिका एक अंग है, अत ये प्रकृतिके नियम उसके जीवनके नियम कहे जा सकते हैं जिनका पालन करना उसके स्वभावका एक धर्म है। इस प्रकार जब प्रकृतिके नियमोंका पालन होने लगेगा, तब सब प्रकारके नियन्त्रण, कानून और राज्यसत्ता आदिकी आवश्यकताएं नष्ट हो जायगी।

समाजके भिन्न भिन्न विभागों और उन विभागोंके पदाधिकारियोंका नाम मिटना जरूरी है। इन अधिकारोंसे समाजके एक समुदायके लोगोंको दूसरे समुदायपर अत्याचारका अनुचित लाभ उठानेका अवसर मिल जाता है और इससे उनकी बुद्धि और मनोवृत्ति दूषित हो जाती है।

बाकुनिनका कथन है कि संसारसे सब धर्म उठा दिये जाय और मानवीय हृदयोंमें पारलौकिक और ईश्वरीय न्यायके स्थानपर मानवन्यायकी स्थापना हो। सब प्रकारकी विवाहप्रथा तोड

दी जाय। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिसे बननेवाली सब जातियां और वर्ग तोड़ दिये जाय। प्रत्येक मनुष्यके चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हक बराबर रखे जायं। उत्तराधिकारकी प्रथा नष्ट कर दी जाय। भूमि, श्रमके साधन, तथा सब प्रकारकी पूंजी समाजके स्वामित्वमें रखी जाय, और स्वेच्छाप्रेरित मजदूरोंको उसका उपयोग करने दिया जाय। प्रत्येक श्रमजीवीको उसके परिश्रमका बदला मिलना आवश्यक है। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें श्रमजीवियोंके अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किये जाय और उनमें पारस्परिक प्रेम बढ़ाकर उद्योग धंधोंकी आवश्यक व्यवस्था की जाय। इस प्रकार लोगोंके हृदयमें स्थित मिथ्या देशाभिमान और परराष्ट्रोंके प्रति द्वेषभाव दूर कर दिया जाय, जिससे सारे संसारके श्रमजीवी मिलकर एक हो जायं।

इन उद्देशोंकी पूर्तिके लिये बाकुनिनने जिन उपायोंकी योजना की है वे बहुत ही क्रांतिकारक हैं। भविष्यमें उसके उद्देशोंकी सिद्धिमें जो राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएं बाधक हो सकती थीं उन सबको वह नष्ट कर देना चाहता था। उसका कथन है कि इस कार्यमें लगे हुए व्यक्तिको अपने वैयक्तिक हित, कोमल मनोभावना, धर्मविचार, राष्ट्राभिमान, या नीति-कल्पनाके कारण उससे कदापि परावृत्त न होना चाहिये। उसका उद्देश सदा यही होना चाहिये कि समस्त साध्य उपायोंसे प्रस्तुत समाजको बिलकुल नष्ट कर दिया जाय। उस कार्यमें यदि दुष्टताका भी उपयोग करना पड़े तो करनेमें नहीं हिचकना

चाहिये। इस विध्वंसके पश्चात् जो व्यवस्था होगी, वह लोगोंके कार्यों और भावोंके अनुसार होगी। परन्तु उसका निर्णय आनेवाली पीढ़ियां स्वयं ही कर लेंगी।

रूसमें बहुतसे लोग बाकुनिनके अनुयायी हो गये। यूरोपके दक्षिणी भागमें भी साम्यवाद-सम्बन्धी आन्दोलनपर इसके विचारोंका प्रभाव पड़ा। १८७३ में स्पेनमें तत्कालीन समाज-पद्धतिके विरुद्ध जो बलवे हुए थे वे इसीके कारण हुए थे। उसकी मृत्युके पश्चात् उसके अनुयायी फ्रांसमें उसके उद्देशोंका प्रचार करने लगे। इसी समय फ्रांसकी खानोंके मजदूरोंने दंगा किया, जिससे पुलिसने कई अराजकवादियोंको गिरफ्तार किया। इन कैदियोंमें विख्यात प्रिन्स क्रोपाट्किन भी था।

अराजकवादके सम्बन्धमें प्रिन्स क्रोपाट्किनके ग्रन्थ आज तक प्रमाणभूत माने जाते हैं। उसके "अनार्किस्ट कम्युनिजम" और "फील्ड, फैक्टरीज एण्ड वर्कशाप" नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उसके विचारोंका विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रिंस क्रोपाट्किनका जन्म रूसके एक बहुत उच्चकुलमें हुआ था। यहांतक कि उसके मित्र कहा करते थे कि रूसके सिंहासनपर जारकी अपेक्षा उसके कुलका विशेष अधिकार है। उसका स्वभाव प्रेमपूर्ण और अन्तःकरण कोमल था। बाल्यकालमें राजदरबारमें रहनेसे वह राज्यपद्धतिसे बहुत परिचित हो गया था और इसी कारण तत्कालीन राज्यपद्धतिसे वह घृणा

करता था। भौतिक एव कृषिशास्त्रसे वह भली प्रकार परिचित था। कारखानेकी अन्तर्व्यवस्था भी उससे छिपी हुई नहीं थी।

उसका पिता गुलामोंका मालिक था, इसलिये वह बाल्यावस्थासे ही ऐसे दृश्य देखा करता था जो टाम काकाकी कुटिया (Uncle Tom's Cabin) में पढ़नेको मिलते हैं। दासोंके साथ जो निर्दयतापूर्ण व्यवहार किये जाते थे उन्हें देखकर उसके हृदयमें दयाका स्रोत उमड आता था। सोलह वर्षकी अवस्थासे उसे राजकीय परिसेवकों (Pages) की शिक्षा मिलने लगी। घरके अन्दर रहकर उसने दीनों और अनाथोंके प्रति प्रेम करना सीखा था, अब राजदरबारमें रहकर उसने बड़े आदमियोंके प्रति घृणा करना सीखा। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि रूसी दमनकारक सरकारसे सेना और शासनके विषयमें किसी तरहके सुधारकी आशा रखना बिलकुल व्यर्थ है। उसके पश्चात् कुछ दिनोंतक वैज्ञानिक विषयका अध्ययन करके वह साम्यवादके आन्दोलनमें सम्मिलित हो गया।

हम ऊपर लिख आये हैं कि क्रोपाट्किन अच्छा ग्रन्थकार भी था और उसने कई ग्रन्थ भी लिखे हैं। क्रोपाट्किनके ग्रन्थोंमें जिन बातोंका विवेचन किया गया है वे दो भागोंमें विभक्त की जा सकती हैं, (१)आर्थिक(२)राजकीय। आर्थिक मतमें दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक सम्पत्तिके उत्पादनका, दूसरा उसके व्ययका। इनमेंसे पहले प्रश्नके सबन्धमें प्राय' एक निश्चित मर्यादातक अराजकवादी और साम्यवादी दोनोंमें मतैक्य है

दोनोंका ही यह मत है कि आधुनिक श्रम और मूलधनके बीच रहा हुआ अन्तर नष्ट कर डालना चाहिये। कारखानों और जमीनपर समाजका अधिकार रक्खा जाय। श्रमजीवियोंके औद्योगिक संघ ही इन कारखानोंको चलायें। मतलब यह कि मूलधनवालोंकी सत्ता निर्मूल करदी जाय। यहांतक अराजकवादी और साम्यवादी साथ २ चलते हैं परन्तु सामाजिक स्वामित्वकी बात छिड़नेपर कारखानोंमें काम करने और तैयार हुए मालके बटवारेके सम्बन्धमें दोनोंमें मतभेद हो जाता है। साम्यवादी कहते हैं कि वर्तमानमें जो रोजाना मजदूरी दी जाती है, उसे बन्द करके, जो लोग काम करें या कमसे कम काम करनेको तैयार हों उन्हें मालकी पैदावारमें हिस्सा दिया जाय, और जो काम न करना चाहें उन्हें या तो कामपर लगाया जाय या भूखों मरने दिया जाय। आगे चलकर इनमें दो मत हो जाते हैं। एक मत कहता है कि हलके और ऊंचे अनाड़ी और कुशल, सबको बराबर हिस्से दिये जाय। दूसरा मत कहता है कि मालका बटवारा कामकी योग्यताके अनुसार होना चाहिये। परन्तु इससे इस सिद्धान्तमें बाधा नहीं आती कि "बिना कर्म किये समाजमें किसीको कुछ भी न मिले।" लेकिन अराजकवादी कहते हैं कि बलप्रयोग करके या क्षुधासे पीड़ित करके काम करनेके लिये मजबूर करना ठीक नहीं। रोजाना मजदूरीकी पद्धति बन्द करके किसीसे बलात् कार्य न कराया जाय। प्रत्येक व्यक्तिको अपने इच्छानुसार जितना समय मिले उतने ही समयतक कार्य्य करनेकी पूर्ण स्वाधीनता रहे।

समाजके प्रत्येक व्यक्तिको यथावश्यक जीवनोपयोगी सभी सामग्री विना मूल्य दी जाय। विलाससामग्री इतने परिमाणमें उत्पन्न नहीं हो सकती जो सभीको पर्याप्त हो, तोभी ये पदार्थ मुफ्तमें ही दिये जायं। हां, वितरण करते समय इस बातका अवश्य ध्यान रक्खा जाय कि हरएक पदार्थ सबको समान भागमें पर्याप्त हो। ऐसा होनेसे वैयक्तिक सम्पत्ति न रहेगी, जिसका न रहना ही अच्छा है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि कोई भी काम करनेके लिये मजबूर न किया जायगा और विना परिश्रमके ही प्रत्येक जीवनोपयोगी सामग्री पा सकेगा तो फिर परिश्रम करनेके झंझटमें पडेगा ही कौन? और जब कोई परिश्रम ही न करेगा तो फिर आवश्यक वस्तुएं तैयार ही कैसे होंगी? दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होगा कि सबको इच्छित परिमाणमें कोई भी वस्तु, चाहे वह आवश्यक ही क्यों न हो मिलती रहनेसे वह यथेष्ट परिमाणमें कैसे उत्पन्न हो सकेगी।

दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए क्रोपाट्किन कहता है कि अन्न वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ किसी नियमित परिमाणसे अधिक कभी खर्च नहीं हो सकते। मनुष्यकी उपभोगशक्तिने उसके उपभोगको मर्यादित कर दिया है। अतएव यदि वे मुफ्तमें भी मिलेंगे तोभी मनुष्य एक विशेष परिमाणसे अधिक संख्यामें कभी न लेगा। उदाहरणार्थ आजकल नलोंके द्वारा यद्यपि लोगोंको पानी मुफ्तमें मिलता है पर तोभी यह कहीं नहीं देखा जाता कि

लोग दिनरात उन्हें खुले रखते हैं। अपना कार्य होते ही नल बन्द कर दिये जाते हैं। यही सिद्धान्त अन्न और वस्त्रोंपर भी लग सकता है, पर तोभी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुफ्तमें सामग्री मिलनेपर कुछ अधिक व्यय अवश्य होगा।

क्रोपाट्किन और अन्य अराजकवादियोंका कथन है कि आज भी अनाज आदि आवश्यक पदार्थ जरूरतसे ज्यादा उत्पन्न होते हैं। फिर क्या कारण है कि इस समय भी लोगोंको ये सामान आवश्यक परिमाणमें प्राप्त नहीं होते? इसका मुख्य कारण यह है कि लोगोंके पास पदार्थोंको खरीदनेके लिये आवश्यक द्रव्यकी कमी है। द्रव्यकी कमीका यह अपवाद सामग्री मुफ्तमें मिलनेपर मिट जायगा और आगे वैज्ञानिक रीतिसे खेती करनेपर पैदावार भी बढ़ जायगी, जिससे रही सही कमी भी दूर हो सकती है। माल्थसने इस भविष्यवाणीको झूठा सिद्ध कर के दिखाया है। उसके विरोधमें क्रोपाट्किन अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करते हुए फ्रांसके उन वैज्ञानिकोंकी ओर उङ्गली उठाता है जो इस बातकी प्रतिज्ञा करते हैं कि खराबसे खराब जमीन भी थोड़े परिश्रममें उपजाऊ बनायी जा सकती है और प्रत्येक खेतमें एक ही वर्षमें पाच छ फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। जितनी जमीनमें आजकल पाच छ टन घास पैदा होता है उसीमें ५० से २०० टनतक घास पैदा की जा सकती है, एव एक वर्गमील भूमिमें इतना अनाज पैदा किया जा सकता है जो एक हजार मनुष्योंको पर्याप्त हो। ये बातें केवल जबानी जमा खर्च नहीं,

बल्कि प्रयोग द्वारा प्रमाणित की हुई बातें हैं। इस समय इङ्ग्लेण्डमें चैम्पियन नामक एक सज्जन हैं जो एक एकड भूमिपर इतनी घास पैदा करते हैं जो तीन पशुओंको पर्याप्त हो ; जब कि वहाके अन्य स्थानोंपर एक पशुके लिये दो तीन एकड भूमि दरकार होती है।

अतएव यह बात सिद्ध हो गयी कि वर्तमान और भविष्यमें बहुत समयतक समाजके सब व्यक्तियोंको सब आवश्यक सामान देते रहनेपर भी भौतिक दृष्टिसे पैदावारमें कमी न होगी।

अब पहले प्रश्नपर विचार करना है कि यदि सब लोगोंको आवश्यक सामग्री मुफ्तमें मिल जायगी तो काम करनेके झंझटमें कौन पडेगा। किसीको क्या जरूरत रहेगी कि वह व्यर्थ ही परिश्रम करके अपने शरीरको कष्ट दे।

क्रोपाट्किन इसका उत्तर देते हुए कहता है कि मानव प्रकृति मिहनतसे घृणा नहीं करती। यथेष्ट काम करना उसे पसन्द है। आजकल लोग जो कार्य करना नहीं चाहते उसका कारण यह है कि उनके कार्यसे उन्हें सुख नहीं मिलता। उस कार्यके सुखको कुछ इने गिने श्रीमान् लोग लूटते हैं। इन्हें तो सिर्फ मजदूरीके गिने हुए पैसे मिलते हैं। परन्तु जब सबके हितका प्रश्न सम्मुख आता है, तब वे जी जानसे परिश्रम करते हैं। हां, यह सच है, कि सीमाके बाहर मनुष्य काम नहीं कर सकता। बेहद काम करनेसे मनुष्य जी चुराता है। इस बातको सभी जानते हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति चार घंटे अच्छी तरहसे काम

करे, और सब एकमत होकर उसकी उत्पादकतापर विशेष ध्यान दें, तो श्रमका अपव्यय बिलकुल बन्द हो जायगा, एवं इस चार घंटेके परिश्रमसे समाजके सब लोग मध्यम श्रेणीकी तरह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

जिस प्रकार अति परिश्रमसे मनुष्य घबराता है उसी प्रकार निकम्मे होकर बैठना भी वह पसन्द नहीं करता। यहांतक कि आजकलके बड़े बड़े श्रीमान् भी कुछ न कुछ उद्योग करते रहते हैं। समयको व्यतीत करनेके लिये एक न एक कार्य करना आवश्यक है। कुछ थोड़ेसे आलसी पिंडोंको छोड़, अन्य लोगोंको कुछ न कुछ कार्य किये बिना चैन नहीं पड़ता? इसका अनुभव पेंशनर लोग भली प्रकार करते हैं। यह सच है कि अधिक परिश्रमसाध्य और कष्टप्रद कार्य करना कोई पसन्द नहीं करता। इसके उत्तरमें कुछ शास्त्रज्ञ कहते हैं कि यन्त्रोंका प्रचार होनेसे लोगोंका श्रम एवं कष्ट दोनों बच जायगे और थोड़े श्रमसे माल भी अधिक तैयार होगा। परिश्रमकी मात्रा कम होनेपर सब लोग प्रसन्नतापूर्वक इसलिये कार्य करेंगे कि निकम्मे बैठना उन्हें बिलकुल पसद नहीं और ज्यों ज्यों यन्त्रोंका प्रचार बढ़ता जायगा त्यों त्यों ऐसे कार्य भी कम होते जायगे जिन्हें करते करते लोग उकता जाते हैं।

इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रतिष्ठाके लोभसे भी लोग कार्य करनेमें प्रवृत्त होंगे। जो व्यक्ति परोपकार-बुद्धिसे दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम काम करेगा, समाज उसे उतनी ही अधिक इज्जत

और सम्मान प्रदान करेगा। आन्तरिक भावना और प्रतिष्ठाके लोभसे भी कई लोग साहसपूर्ण, चातुर्य्ययुक्त और अधिक परिश्रमके काम करनेमें प्रवृत्त होंगे। वर्त्तमानमें भी कई विद्वान केवल यशके मन्दिरमें पहुचनेके लिये सारा जीवन वैज्ञानिक खोजमें ही लगा देते हैं। वर्त्तमान कालमें भी जब कि लोगोंकी स्वार्थवृत्ति बढ़ रही है ऐसे महापुरुष पाये जाते हैं तो भविष्यत्में जब कि मनुष्यकी वृत्ति स्वार्थकी ओरसे हटकर केवल परोपकार की ओर प्रवृत्त होगी ऐसे महात्मा इससे कई गुनी सख्यामें उत्पन्न होंगे।

इस प्रकार उक्त दोनों प्रश्न सहज ही हल हो जाते हैं। पहला यह कि श्रम करनेके लिये किसी प्रकारकी सख्ती न की जायगी तोभी कुछ अपवादोंके सिवाय सभी लोग परिमित श्रम अवश्य करेंगे। दूसरा यह कि ज्ञानकी सहायता और यान्त्रिक उन्नतिसे उक्त परिश्रम द्वारा समाजके सब लोगोंको आवश्यक वस्तु यथेष्ट परिमाणमें मुफ्त मिल जाया करेगी। अतएव निश्चित हुआ कि—

१—समाजमें किसीसे बलात्कार कार्य्य न कराया जाय और किये हुए कार्यके बदलेमें किसीको वेतन, मजदूरी या अन्य किसी प्रकारका बदला न दिया जाय।

२—समाजके प्रत्येक व्यक्तिको उदरनिर्वाहार्थ आवश्यक वस्तु मुफ्त और काफी परिणाममें दी जावे। सुख भोगके वे पदार्थ जो काफी परिमाणमें उत्पन्न न हों, सबको बराबर बाट दिये जायँ।

अब हम अराजकपंथके दूसरे विभाग "राजकीय विभाग" पर कुछ विस्तृत विवेचन करेंगे।

मार्क्सने प्रतिपादित किया है कि आदर्श समाज व्यवस्था होनेपर सरकारका आधुनिक स्वरूप नष्ट हो जायगा। उनके जिम्मे केवल भिन्न भिन्न औद्योगिक संघकी पारस्परिक व्यवस्था-का उपद्रवहीन कार्य रह जायगा। परन्तु उसने सरकारके जिम्मे जिन जिन कार्यों को देनेका विचार स्थिर किया है उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि सरकारकी सत्ता किसी प्रकार कम हो जायगी। उलटे उससे तो उसकी सत्ता बढ़ना ही सम्भव है। मार्क्सने 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो'में लिखा है कि आवागमनके सब साधनोंकी व्यवस्था सरकारके जिम्मे रहे, और मध्यवर्ती बंकके द्वारा वह क्रेडिट (साख) पूर्तिकी व्यवस्था करे। इससे सरकारकी जिम्मेदारी घटेगी या बढ़ेगी इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

प्रजासत्तात्मक पद्धतिके पृष्टपोषकोंका कथन है कि एक तो श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि ही उसकी सत्ताका उपयोग करेंगे, दूसरे उस समय वर्णभेद बिलकुल नष्ट हो जायगा। सारा

अनेकके उससे समाजको समान ही कष्ट होगा। अधिकारी चाहे कैसा ही क्यों न हो अधिकारके शासनपर आसीन होते ही उसकी दृष्टि परिवर्तित हो जाती है,उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, और उन (अधिकारियों) का समाज ही अलग बन जाता है। वे अन्तःकरणसे इस बातका अनुभव करने लग जाते हैं कि प्रजाकी अपेक्षा उन्हें हिताहितका ज्ञान अधिक है एवं जो कुछ भी वे कर रहे हैं वही समाजको हितकारक है। मतविरोधको वे सहन नहीं कर सकते, और जो कोई उनका विरोध करते हैं उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। निर्वाचकोंका प्रतिनिधियोंपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसका उदाहरण प्राय सभी प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्योंमें पाया जाता है। अतएव यह अनुमान करना कि श्रीमानोंके हाथकी सत्ता श्रमजीवियोंके हाथोंमें जानेपर समाजकी दशा सुधर जायगी बिलकुल व्यर्थ है। वर्तमानमें भी पार्लमेन्टके अन्दर श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि जाते हैं पर वे हमेशा अपने समाजकी रुखको देखकर कार्य नहीं करते हैं कितने मनमाना कार्य कर बैठते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि भविष्यत्में आदर्श स्थिति प्राप्त होनेपर यदि श्रमजीवियोंके हाथमें भी सत्ता रही तो उसका परिणाम बुरा होगा।

क्रोपाट्किन लिखता है कि "मानवीय इतिहासमें प्रातिनिधिक पद्धतिको जो कुछ करना था उसे वह कर चुकी। उसीके द्वारा पहलेकी वैयक्तिकराजपद्धति नष्ट हो चुकी। उसीके कारण

जनता अब सार्वजनिक प्रश्नोंकी ओर ध्यान देने लगी है, किन्तु इससे यह अनुमान कर लेना भारी भूल होगी कि यही पद्धति आदर्श समाजके अनुकूल होगी। समाजकी आर्थिक स्थितिके अनुरूप ही उसकी राजकीय स्थिति होगी और समाजकी आधुनिक आर्थिक अवस्थाका मूल वैयक्तिक सम्पत्तिके नष्ट हो जानेपर आधुनिक राजकीय व्यवस्थामें परिवर्तन न होना असम्भव है। आधुनिक जीवनक्रमसे इस परिवर्तनकी दशाका अनुभव हो सका है। इस परिवर्तनसे सरकारकी सत्ता न बढ़ सकेगी। वर्तमानमें सरकार जिन जिन कार्यों के करनेमें हाथ डालती है भविष्यत्में वे ही कार्य पारस्परिक अनुमतिसे बने हुए मण्डल और संस्थाओंके द्वारा ही सम्पादित होंगे।

अराजक लोग खुले मैदानमें इस बातको प्रतिपादित करते हैं कि समाजमें किसी प्रकारके बाह्य शासन और सरकारकी सत्ता धरनेवाली किसी संस्थाकी आवश्यकता नहीं। इससे यह कल्पना न करना चाहिये कि सरकारके न होनेसे चारों ओर गोलमाल एवं गड़बड़ हो जायगी। अराजक भी समाजमें सुव्यवस्थाका रहना अति आवश्यक समझते हैं, पर उनका कथन है कि यह सुव्यवस्था कोई किसीपर बलात्कार न करे। सब यह सोचकर कि उसमें समाजका हित है उस कार्यको अपने हृदयसे करें। ऐसी व्यवस्था करना असम्भव नहीं। श्रीमान् लोगोंकी वर्तमान सत्तामें भी इसी प्रकारकी व्यवस्था रक्खी जाती है। इसकी पुष्टिके लिये वे लोग रेलवे का उदाहरण देते

हुए कहते हैं कि सभी राष्ट्रोंकी रेलवे कम्पनियां पारस्
सम्मतिसे टाइम-टेबिल निश्चित करती हैं। यद्यपि कोई
इसे पालन करनेको मजबूर नहीं करता तोभी उस नि
टाइम-टेबिलका पालन करनेमें वे तनिक भी त्रुटि नहीं क
मतलब यह कि पारस्परिक सम्मतिका उपाय बहुत ही उप
है। इससे वैयक्तिक स्वार्थपरता नष्ट हो जायगी और सम
सब कार्य सुव्यवस्थित रूपसे चला करेंगे।

इन सिद्धान्तोंपर कई प्रकारके आक्षेप किये जाते हैं।
लोग कहते हैं कि राज्यसत्ताके नाम शेष हो जानेपर कोई कि
को दबानेवाला न रह जायगा, जिससे महाभारत शान्तिपर्वके
वें अध्यायमें कहे अनुसार "किसीपर किसीका अधिक
रहेगा।" स्वेच्छाचार और डकैती बढ़ जायगी। "जिसकी
उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी। कृषि
वाणिज्यका नाश हो जायगा। विवाहप्रथाका अस्तित्व
जायगा, धर्म और यज्ञका नाम शेष हो जायगा और मारे
हाहाकार मच जायगा।

क्रोपाट्किन इस आक्षेपका उत्तर देते हुए कहता है कि
विषयपर ज्यों ज्यों विचार किया जाता है त्यों त्यों यह विश्
निश्चय होता जाता है कि आजकल समाजमें जितने दुष्कृत्य
हैं उन सबोंका उत्तरदायित्व समाजपर ही है। सजा देनेसे
फासीपर लटकानेसे इन दुष्कृत्योंकी कमी नहीं हो सकती। आ
कल न्यायालयोंके अन्दर जितने मुकद्दमें आते हैं उनमें अधिकां

उत्पत्तिका कारण मनुष्य—समाजकी दुर्वृत्ति नहीं वरन् समाजकी द्रव्योत्पादन या द्रव्यविभाजन करनेकी अव्यवस्था ही है। इसके अतिरिक्त मानवप्रकृतिकी दुर्वृत्तिके कारण भी जो अपराध होते हैं वे भी फांसी और जेलखानेके डरसे कदापि कम नहीं हो सकते प्रत्युत् इनसे उनकी संख्या और भी बढती है। हमारी गुप्तपुलिस, कैदखाने और फांसीपर लटकानेकी व्यवस्थाने ही समाजको उच्छृंखल बना दिया है, और इन्हींके कारण इसमें नीच मनोवृत्तियों और दुष्ट आदतोंका प्रचार होता जा रहा है नीतिनियमकी आडमें समाजके अन्दर जो जो घटनाएं होती हैं उन्हें देखकर कलेजा कांप उठता है। किस रीतिसे इन उपायोंका पता लगाया जा सकता है इसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं (Anarchist Communisme पृष्ठ ३१—३२)

वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर किसीको उदरनिर्वाह की चिन्ता न रहेगी। जिससे समाजका स्वरूप बदल जायगा, स्वार्थकी जड कट जायगी, और दुष्ट विचार उत्पन्न करनेवाली परिस्थिति ही नष्ट हो जायगी। इतनेपर भी यदि कोई भूला भटका किसी प्रकारका दुष्कृत्य कर भी डालेगा तो उसे किसी प्रकारकी सजा न देकर सहानुभूतिके साथ समझा दिया जायगा। इस प्रकार धीरे धीरे अपराधोंकी संख्या घटती जायगी और कुछ समयमें वे बिलकुल निर्मूल हो जायगे।

यही अराजकपथके राजकीय और आर्थिक मार्गोंका स्थूल स्वरूप है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो इसका और सब धर्मों एवं

तत्त्वज्ञानोंका साध्य एक ही है। तत्त्वज्ञान और धर्म भी यही उपदेश देते हैं कि मनुष्यको बाह्य नियन्त्रणकी उपेक्षा न कर केवल कर्त्तव्यसे प्रेरित होकर निष्काम बुद्धिसे कार्य्य करना चाहिये। मनुष्य-समाजमें ज्ञान और आत्मसंयमका इतना प्रचार होना चाहिये कि कानून और सरकारकी उनको कोई परवा ही न रहे। उनके पारस्परिक व्यवहार नीति और प्रेमसे युक्त हों। यही सिद्धान्त (बाह्यबन्धनकी अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणाकी स्थापना) अराजकवादियोंका भी है। उनका कथन है कि प्रत्येक प्रकारका बाह्य नियत्रण मनुष्यकी प्राकृतिक स्वाधीनतापर आक्रमण करता है। अतएव उसको नष्ट करना अनिवार्य है।

आगे चलकर अराजकपंथवादी कहते हैं, सब आधुनिक संस्थाएं नष्ट कर दी जाय। तत्त्वज्ञान कहता है कि इनमेंसे कुछ संस्थाएं स्वार्थनिरोध और इन्द्रियनिरोधके लिये आवश्यक हैं। उन्हींके द्वारा मनुष्य अपने साध्यपर पहुंच सकता है। इस प्रकार अराजकपन्थ और धर्ममें केवल साधनका अन्तर है, साधनका नहीं।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि यह पथ रूसमें ही सबसे अधिक फैला है। उस जमानेमें रूसके समान यूरोपमें कहीं भी एकतन्त्री राज्यव्यवस्था नहीं थी। बिना कारणके कार्य कहीं नहीं होता। यही कारण है कि रूसमें बहुत फैलनेपर भी इस सिद्धान्तकी वायु यूरोपमें नहीं पहुंची। मानसशास्त्रका एक सिद्धान्त है कि जहां लोगोंका बंधन जितना ही दृढ होगा, उसका विरोध भी

उतना ही प्रबल होगा। जहांपर लोगोंको प्रगटमें राजनीतिक चर्चा करनेकी इजाजत नहीं रहती, वहांपर अप्रकटमें अत्याचार और क्रान्ति द्वारा उसे साध्य करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

रूसमें दो संस्थाएं बहुत प्राचीन हैं, जिनका वहांके समाजपर गहरा प्रभाव पड़ा है। पहली संस्था है ज़ारकी एकतन्त्र शासनकी पद्धति और दूसरी देहातियोंकी "मीर" नामक समाज पद्धति। तातार, तुर्क, पोल, स्वीडन, लिथूनियन आदि शत्रु रूसको घेरे हुए थे। अतएव उस समय देशकी रक्षाके लिये एकतन्त्री सरकारकी आवश्यकता थी। परन्तु एक बार स्थापित होते ही उस पद्धतिने वहां अपनी मजबूत जड़ जमा ली। ज़ारकी सत्ता मर्यादित रखने या उसपर किसी प्रकारका प्रतिबन्ध डालनेवाली वहां कोई सभा नहीं। यूरोपके अन्य देशोंके समान वहांपर धर्माधिकारियोंका प्राबल्य भी नहीं। वहां ईसाई धर्मका ग्रीक कैथालिक नामक बिल्कुल ही भिन्न मत प्रचलित है। उस मजहबके धर्माध्यक्षकी कदर रोमनकैथालिक धर्माध्यक्षके समान स्वतन्त्र और राजासे श्रेष्ठ नहीं। प्रत्युत् वहांके धर्माधिकारीको राजाकी आज्ञाके अनुकूल चलना होता है। ज़ारने वहांके सरदारोंको भी हतवीर्य कर डाला है, अतएव इङ्गलैण्डके समान वहां सरदारोंका प्राबल्य भी नहीं। यूरोपके अन्य देशोंमें धनी, व्यापारी, कारखानेदार आदि लोगोंका "मध्यम" नामक एक वर्ग है, पर रूसमें व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति न होनेसे उसका भी अस्तित्व नहीं। इन सब कारणोंके एक ही स्थानपर एकत्रित

हो जानेसे जारकी सत्ता स्वेच्छाचारितासे पूर्ण और बहुत निरंकुश है। पीटर महानके समान कुछ जारोंने इस सत्ताका उपयोग कर देशका बहुत कुछ हित किया, पर खासकर इस सत्ताका उपयोग देशकी उन्नतिके लिये न कर, अपने अधिकार और सुखको निर्विघ्न रखनेके लिये ही किया जाता है।

रूसकी दूसरी संस्थाका नाम है "मीर"। इसमें और भारतवर्षकी ग्राम्यपचायतमें बहुत कुछ साम्य है। प्रत्येक ग्राममें एक एक मीर रहता है। ग्रामकी सब जमीन मीरके अधिकारमें रहती है। मीरके और सब ग्रामवासियोंके हक बराबर रहते हैं भारतीय ग्राम्य पंचायतोंके समान ही मीर सब ग्रामकी व्यवस्था करता है। प्रत्येक गावका मीर और उसकी अन्तर्व्यवस्था स्वतन्त्र प्रकारसे चलती है और प्रत्येक ग्राम अपनी भौतिक आवश्यकताएं आप ही पूरी कर लेता है। जमीनका कर और सेनाके लिये सैनिक देनेका कार्य भी इसीके जिम्मे रहता है। इससे जारको भी बड़ी सुविधा रहती थी। हजारों व्यक्तियोंसे भिन्न भिन्न सम्बन्ध रखनेकी अपेक्षा अकेले मीरसे सम्बन्ध रखना बड़ा सहज है और इसी कारण कई राज्यक्रान्तियां होनेपर भी मीरके जीवनमें कोई धक्का न पहुंचा। जारको मीरकी अन्तर्व्यवस्थामें हाथ डालनेका कोई मौका ही न आया। मीरके ही कारण रूसी* कृषकोंपर ससारके परिवर्तनका प्रभाव न पड़ा। लेकिन इस कारण उनके जीवनमें एक प्रकारके शैथिल्यका प्रादुर्भाव हो गया। ससारकी सामयिक समीरका उनके शरीरमें

सचार न होनेसे उनके विचारोंका विकास बिलकुल न होने पाया। वे यहांतक नहीं जानते थे कि सुधार किस चिड़ियाका नाम है। राजव्यवस्थासे उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होनेसे उस ओर उन्होंने ध्यान न दिया। "कोउ नृप होउ हमें का हानी" की नीतिके अनुसार उनकी स्थिति थी। इसीसे सारे यूरोपके अन्दर रूसके समान अज्ञानी, वैमनस्यशून्य और पशु समाज दूसरे स्थानपर ढूढे भी नहीं मिलेगा। इसका सब दोष यदि मीरके सिरपर मढ़ा जाय तो कोई अनुचित न होगा। जार युद्ध और ऐशोआरामके लिये प्रजासे जबर्दस्ती सैनिक और कर वसूल करता था। ये सब अत्याचार रूसी कृषक चुपचाप सहन कर लेते थे। इन अत्याचारोंके असह्य हो जानेपर कभी बलवे हो जाते थे पर वे सुसगठित न होनेके कारण शीघ्र दबा दिये जाते थे, और बलवाइयोंको कठोर दण्ड दिया जाता था। इन सब कारणोंसे कृषक अथाह नैराश्य-सागरमें गोता लगाकर हाथपर हाथ धरे प्रारब्धकी ओर देखा करते थे। यह उनमें एक आदत सी हो गयी थी।

ऐसी दशा होनेपर भी रूसका यूरोपके अन्य देशोंसे थोड़ा बहुत सम्बन्ध हमेशा बना रहता था। अतएव यदि दबे छुपे वहांकी कोई कल्पना रूसमें प्रविष्ट हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रारम्भमें रूसके उच्चकोटिके लोगोंमें अन्य देशोंके आचार व्यवहार और स्वातन्त्र्य भावोंका प्रचार होने लगा। कुछ दिनोंके पश्चात् इस प्रकारके मतका होना एक तरहके फैशनमें परिग-

पित होने लग गया। सन् १८५५में अलेक्जेंडर जारके सिंहास नपर बैठा, उसके मत कुछ उदार थे अतएव वह राज्यव्यवस्थामें सुधारकर लोगोंको कुछ अधिकार प्रदान करना चाहता था। उस समयतक रूसी कृपक गुलाम समझे जाते थे, लेकिन उसने उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। देशमें नवीन न्यायालय स्थापित किये गये। लोगोंको स्थानीय स्वराज्य दिया गया एवं शिक्षाप्रचारकी व्यवस्था की गयी।

इन सब सुधारोंसे लोगोंके मनमें कुछ कुछ आकांक्षाएं उत्पन्न होने लगीं, जिससे वहांके समाजमें कुछ कुछ जीवन दिखायी पड़ने लगा। इसी समय रूसमें यूरोपके पुरोगामी और क्रान्तिकारक विचारोंका समावेश हुआ। निराशा और अज्ञानके अन्धकारमें पड़े हुए रूसी समाजको एकाएक प्रकाशकी किरण दिखायी दी। अन्धेको लाठी मिलनेके समान इन लोगोंको इन क्रान्तिकारक विचारोंसे आनन्द हुआ। उन्होंने इन विचारोंका हृदयसे अभिनन्दन किया, और उस अभिनन्दनके साथ ही उन्हें उस पराधीनताके बन्धनोंको तोड़नेकी इच्छा हुई जिसमें वे जकड़े हुए थे। रूसके इस क्रान्तिकारक आन्दोलनको "विध्वं सक" (Nihilist) संज्ञा दी गयी। इस मतके अनुयायियोंको किसी प्रकारकी सत्ता पसन्द न थी। किसी भी मत, सम्प्रदाय और सिद्धान्तको केवल विश्वासपर पूजना उनकी शानके खिलाफ था। समाजकी सब राजकीय और कौटुम्बिक संस्थाएं, धर्म और नीतिसे उनकी दृष्टिमें त्याज्य और दोषपूर्ण

थीं। वे उन सबको नष्ट करके समाजकी एक नवीन ढङ्गसे रचना करना चाहते थे। क्रमश और धीरे धीरे सुधार करना वे अपनी शानके खिलाफ समझते थे। कला, कौशल, काव्य एव कोमल मनोविकारोंको वे तुच्छ दृष्टिसे देखते थे। भौतिक शास्त्र और बुद्धिका ही वे सबसे अधिक आदर देते थे। इन सब बातोंको इनकी बाह्य नीतिमें गणना की जाय तो अनुचित न होगा। असलमें समाजके दीन दुखी लोगोंका सुधार करना ही इनकी आन्तरिक नीति थी। लेकिन समाजकी एक भी सस्था और शासनपद्धतिसे उसका सुधार होते न देख ये बड़े चिढ गये थे, और इसी सात्विक आवेगमें आकर वे सब प्रकारके विध्व-सक कार्य करनेको उतारू हो गये। वे समाजके सब लोगोंको समान समझते थे, दूसरे अलेक्जेंडरके सिंहासनारूढ होनेके समय इस मतके अनुयायियोंने आधुनिक व्यवस्थाको नष्ट करनेका यत्न आरम्भ किया। इस ओर ध्यान न देकर यदि जार अपने निजके उदार मतानुसार राजकीय और अन्य सुधारोंका काम जारी रखता तो वहासे इस मतका अस्तित्व शीघ्र ही उठ जाता, क्योंकि तत्कालीन शोचनीय परिस्थितिके कारण ही इस मतका प्रचार हो पाया था। यदि वह परिस्थिति ही नष्ट कर दी जाती तो इस मतका कोई आधार न रह जाता। लेकिन जारके ये सुधार देशके पुराने श्रीमानोंको पसन्द न थे। उनके स्वार्थमें इन सुधारों-से भारी धक्का पहुचा था। इससे ये यही मौका देख रहे थे कि किसी प्रकार जारसे इन सुधारोंका होना बन्द कराया जाय।

बस, ज्योंही निहिलिस्टोंका प्रचार हुआ, त्योंही जारके मनमें उन्होंने यह बात जमा दी कि यह दल उन्हीं सुधारोंका नतीजा है। अस्थिर बुद्धिजारका भी मन यह बात सुनकर मैला हो गया। दूरदर्शितासे रहित होनेके कारण वह स्वय कुछ भी नहीं सोच सका। इतनेमें ही सन् १८६६ में "कॅरोकेज़ाप" नामक व्यक्तिने जारको मार डालनेकी कोशिश की, जिससे जारका मन और भी बिगड गया, और उसने शीघ्रही धरपकड प्रारम्भ कर दी।

यूरोपमें अन्यत्र प्रचलित साम्यवादियोंके प्रयत्नसे रूसके नवयुवकोंमें जागृति होने लगी। दमननीतिसे उस उत्साहको नष्ट करना असंभव था। मार्क्सका अन्तर्राष्ट्रीय सघ श्रमजीवियोंमें जोर शोरसे कार्य कर रहा था। जर्मनीमें प्रजासत्तात्मक साम्य वादी पक्ष अपने मतका प्रचार कर रहा था। सन् १८७० में पेरिसमें भी कुछ समयके लिये कम्यूनने अपना प्रजासत्तात्मक साम्यवादी राज्य स्थापित किया था। इन सबका प्रभाव रूसपर भी पडता था। रूसके सैकडों छात्र फ्रास, जर्मनी, स्विट्‌जरलैंडमें शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। सन् १८७३में एक फरमान निकालकर जारने उन सबको बुला लिया। ये विद्यार्थी भी अपने साथमें अन्य स्थानोंके जागृतिकारक भाव लेते आये थे। इनमें अधिकाश बाकुनिनके अराजक पथके ही भाव थे। वे निहिलिस्ट पथके मतोंको अपेक्षा अधिक सौम्य और विधायक थे। इन सब विद्यार्थियों का उद्देश देशके सब लोगोंसे मिल जुलकर जागृति उत्पन्न करनेका था। इसलिये वे सब लोग छोटे२ खेडोंमें फैल गये और

वहाके लोगोंसे मिल जुलकर अपना कार्य करने लगे। ये छात्र भी कृषकोंकी तरह मोटे कपडे पहनते और खेती करते थे, यहां तक कि बडे बडे धनाढ्योंके लडके भी जिन्हें खेती करनेका बिलकुल अभ्यास न था साधारण मजदूरोंकी तरह कठिन परिश्रम करते थे। ऐसा करके वे श्रमजीवियोंको अपने दलमें मिलानेकी कोशिश करते थे। इस प्रकार रूसके नवयुवक अपूर्व उत्साह और अलौकिक स्वार्थत्यागसे जागृति फैलानेका प्रयत्न करने लगे, पर अनुभवहीन होनेके कारण विशेष सावधानी और चतुरतासे कार्य करनेमें वे असमर्थ हुए। सरकारको यह बात मालूम होते ही उसने उनको गिरफ्तार करनेका हुक्म दिया, जिससे तीन ही वर्षमें (१८७३-७६) दो हजार युवक कैद कर लिये गये।

इस धरपकडसे बहुत परिवर्तन हो गया। जब रूसी युवकोंको अपनी भूल मालूम हुई तो उन्होंने अपनी कार्यप्रणालीको बदल डाला। वे देहातोंमें जाकर रहने लगे, और धीरे धीरे लोगोंको उत्तेजना देकर जारके विरुद्ध भडकाने लगे। कुछ दिन पश्चात् फिर जब उन्हें यह मालूम होने लगा कि अशिक्षित कृषकोंको अपने अनुकूल करना बहुत कठिन है तो फिर उन्होंने अपनी कार्यपद्धतिको बदला, और जार या अन्य कर्मचारियोंके विरुद्ध गुप्तरीतिसे सावधानीपूर्वक कार्य करना निश्चय किया। बाकुनिनका यह उपदेश था कि समाजमें अमर्यादित स्वातन्त्र्य होना चाहिये। परन्तु उसके अनुयायियोंने इस अमर्यादित स्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेके लिये जिस गुप्त मण्डलकी

स्थापना की उसमें आज्ञापालनके लिये बहुत कठोर नियम बनाया गया।

एक मध्यवर्ती मण्डल स्थापित किया गया और यह नियम बनाया गया कि सब मण्डल बिना किसी शिकायतके उसकी आज्ञाओंका पालन करें। इस प्रकार कार्य प्रारम्भ किया गया। इस मण्डलका उद्देश बड़े २ अधिकारियों और जारका खून करनेका था। दिन दहाड़े पुलिसके एवं प्रान्तोंके खास अधिकारी और जनरलका खून किया गया, और दो चार बार असफल होनेके पश्चात् १८८१ में जार भी मार डाला गया।

रूसके इस क्रान्तिकारक पन्थके पुरोगामी सिद्धान्त अत्यन्त समाजघातक थे। इसलिये सरकारका उस ओर बिलकुल ध्यान न देना असम्भव था। इस पन्थको नष्ट करनेका केवल एक उपाय प्रजाको शासनके अधिकार देकर उसे क्रान्तिसे विमुख करना था। पर जारने ऐसा न करके दमननीति प्रारम्भ कर दी। जिसका फल यह हुआ कि लोगोंने प्रत्यक्षरूपसे कार्य करना बन्द करके गुप्तरूपसे कार्य करना प्रारम्भ किया जिससे बेचारे जारको खुद भी उनका शिकार बनना पड़ा। जारके खूनके पश्चात् जब नवीन जार सिंहासनारूढ़ हुआ तो क्रान्तिकारियोंने उसे एक पत्र लिखा, जिसमें लिखा था कि यदि लोक-निर्वाचित प्रतिनिधिसभा स्थापित कर उसे अधिकार दिये जाय तो सब षड्यन्त्र और अत्याचार बन्द कर दिये जायंगे। इससे स्पष्ट मालूम होता है

कि यद्यपि क्रान्तिकारियोंने परिस्थितिसे लाचार हो नृशंसता-पूर्ण कार्य किये थे, पर तोभी उनका उद्देश पवित्र था। उस खराब परिस्थितिके बदल जानेपर वे अपने मार्गको भी बदलनेके लिये तैयार थे।

पर सब व्यर्थ हुआ। तीसरे निकोलसने भी उसी प्रकार दमननीति प्रारम्भ कर दी और सन् १९०३में ही १२००० लोगोंपर राज्यविद्रोहका अभियोग चलाया गया। इधर रूस-जापान युद्धमें रूसकी पराजय हुई, जिससे सारा देश तूफानसे प्रताडित समुद्र-की तरह क्षुब्ध हो उठा और अन्तमें लाचार होकर १९०५ में जारको डूमा नामक प्रतिनिधिसभा स्थापित करनी पडी। लेकिन फिर भी इस सभाको शासनके हक बिल्कुल नहीं दिये गये। केवल राज्यकार्यकी आलोचना करनेका हक उसे दिया गया। परन्तु उससे लोगोंका सन्तुष्ट होना असम्भव था। संसारव्यापी महासमरमें रूसकी सेना बडी अव्यवस्थित थी, जारकी कायरता और रूसकी पराजयने तो लोगोंका जारके प्रति जो कुछ भी प्रेम रह गया था, उसे भी नष्ट कर डाला। अन्तमें डूमाने २४ घन्टेके अन्दर जारको पदत्यागके लिये मजबूर किया। इसके पश्चात् डूमाने अपने निजका प्रधान मण्डल बनाया। परन्तु कुछ ही समयके पश्चात् शासनसत्ता दोनोंके हाथसे निकल गयी।

श्रमजीवियोंके नेता 'लेनिन' और "ट्रोट्स्की" ने प्रधान मण्डल और डूमाको अर्द्धचन्द्र देकर सब सत्ता अपने हाथमें ले

शत्रुसेना मैदानमें तलवार लिये युद्धके लिये उपस्थित थी, जिस समय अकालके मारे देशमें लूटमार मच रही थी, जिस समय कमजोर प्रजा बुरी तरह पिसी जा रही थी, जिस समय "जिसकी लाठी उसकी भैंस" (The might is right) वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी और जिस समय सारी सेना हतवीर्य हो गयी थी, ऐसे सकटके समयमें बोल्शेविक नेताओंने रूसका राज्य अपने हाथमें लिया और यूडेनिच, डेनकिन, रैंगल आदि अन्तरस्थ शत्रुओंको पराजितकर मित्रराष्ट्रके समान बलवान शत्रुओंकी भी देशमें दाल न गलने दी। इसके पश्चात् उन्होंने जनतामें नवजीवनका सचार किया, उचित व्यवस्था निर्माण की, शान्तिकी स्थापना की, कारखानोंको चलाये और राज्य कारोबारको उचित रूप दिया। इसके अतिरिक्त अपने सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें परिणत किया। वहाकी आधुनिक शान्ति और सुव्यवस्थाका लोहा मानते हुए शत्रु भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि वहाकी राज्यव्यवस्था सुचारुरूपसे चल रही है। इससे साफ मालूम होता है कि रूसी जनता बोल्शेविज़मको हृदयसे चाहती है, वह उसका सच्चे दिलसे अभिनन्दन करती है। इसका कारण यह है कि यह मत अपने अनुयायियोंमें उत्साह और कर्त्तव्य परायणता भरनेका विलक्षण सामर्थ्य रखता है। ऐसी हालतमें कैसे कहा जा सकता है कि बोल्शेविक लोग दुष्ट, दुराचारी एव त्याज्य होते हैं। किसी भी मतका अधिक... या वसमें अद्भुत प्रेरणाशक्ति तभी हो सकती है जब कि

उसमें प्रामाणिकता, चिरकालीन सत्यता, और परिस्थितिकी अनुरूपता काफी अशमें हो, और उस अशको जाननेके लिये उसके अनुयायियों और प्रवर्तकोंकी दृष्टिसे उसपर विचार करना चाहिये। केवल द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर छिद्रान्वेषणके द्वारा उसे जान लेना सम्भव नहीं। उसके लिये पक्षपातहीन एव सत्य जिज्ञासासे प्राप्त होनेवाली अनुकूल मनोवृत्तिकी आवश्यकता है।

इसी उद्देशसे प्रेरित होकर पक्षपातहीन बुद्धिसे हम इस पर विचार करेंगे। समाचारपत्रोंके अतिशयोक्तिपूर्ण लेखों एव स्वार्थी व लेखकोंके द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर लिखे गये ग्रन्थोंपर ध्यान न देकर हम प्रसिद्ध बोल्शेविक नेता लेनिन, और बोल्शेविक सरकारके द्वारा प्रकाशित लेखोंके आधारपर कुछ लिखनेका प्रयत्न करेंगे। इस परिच्छेदमें केवल सैद्धान्तिक दृष्टिसे ही विचार किया जायगा। साम्यवादी सरकार इन कुछ वर्षोंमे बहुत समयतक स्थापित रही है। अतएव इस समय सारे संसारकी दृष्टि इस बातपर लगी हुई है कि इन तत्वोंको व्यवहारकी कसौटीपर परखनेके लिये जो यह उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है, बोल्शेविक सरकार उसका किस तरह उपयोग करती है। यह भी साफ जाहिर है कि साम्यवादकी भावी स्थिति इसी अवसरके उपयोगपर अवलम्बित है। इस दृष्टिसे बोल्शेविक सरकारकी राज्यपद्धति और रूसमें उनके द्वारा की गयी राजकीय, सामाजिक और आर्थिक क्रांति संसारके इतिहासमें अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

गिक श्रमजीवियोंकी सख्या ही अधिक थी, न उनका सङ्गठन ही दृढ था, और न कारखानोंकी स्थिति ही ऐसी थी, जिससे वहा इन उपायोंका सहारा लिया जाय। इससे वहापर सघवादकी जड जमना कठिन था। इसके अतिरिक्त वहापर जारशाहीका शासन इतना कठोर और दीर्घकालव्यापी था कि उसके विरुद्ध कोई भी आन्दोलन शस्त्रकी सहायता और गुप्तरीतिसे किये बिना सफल नहीं हो सकता था। 'क्रमश' 'धीरे धीरे' इत्यादि शब्द वहाके शब्दकोषसे निकाल दिये गये थे। उस समय तो वह केवल "एक घाव और दो टुकडे" के सिद्धान्तका ही आधार रह गया था। न्यायसङ्गत उपायों द्वारा किसी भी इष्टसिद्धिकी प्राप्तिका प्रयत्न करना बिलकुल असभव हो गया था। ऐसी परिस्थितिमें रूसके लोगोंको मार्क्सके "वर्ग-कलह" और "सशस्त्र क्राति" सिद्धान्त ही पसन्द आये। बोल्शेविक लोगोंने इन्हीं सिद्धान्तोंकी नीवपर अपने पन्थकी इमारत खडी की।

लेनिनने "दी स्टेट एन्ड रिवोल्यूशन" नामक ग्रन्थके ८४ वें पृष्ठमें लिखा है कि "बोल्शेविज्म" शब्द रूसी भाषाके 'Bolshivstvo शब्दसे निकला है, जिसका अर्थ मताधिक्य होता है। सन् १९०३ मे ब्रूसेल्समें रूसके साम्यवादियोंकी एक परिषद् हुई, जिसमें अन्तर्व्यवस्था सम्बन्धी मतभेदोंके कारण कई पक्ष हो गये थे। उसमें लेनिनके पक्षपातियोंकी सख्या सबसे अधिक थी। इसीसे इस पक्षको "बोल्शेविक" सज्ञा दी गयी, ... नाम अभीतक प्रचलित है।

ा ही अधिक थी, न उनका सङ्गठन ही
की स्थिति ही ऐसी थी, जिससे वहां
ा जाय। इससे वहांपर संघवादकी
इसके अतिरिक्त वहांपर जारशाहीका
दीर्घकालस्थायी था कि उसके विरुद्ध
ी सहायता और गुप्तरीतिसे किये बिना
। 'क्रमशः' 'धीरे धीरे' इत्यादि शब्द
ड दिये गये थे। उस समय तो वहां
टुकड़े" के सिद्धान्तका ही आधार रह
उपायों द्वारा किसी भी इष्टसिद्धिकी
िल्कुल असंभव हो गया था। ऐसी
को मार्क्सके "वर्ग-कलह" और "सशस्त्र
ान्द आये। बोल्शेविक लोगोंने इन्हीं
ने पन्थकी इमारत खड़ी की।
पन्ड रिवोल्यूशन" नामक ग्रन्थके ८४
कि "बोल्शेविज्म" शब्द रूसी भाषाके
निकला है, जिसका अर्थ मताधिक्य होता
ेलनमें रूसके साम्यवादियोंकी एक परि-
वस्था सम्बन्धी मतभेदोंके कारण कई

गिक श्रमजीवियोंकी सख्या ही अधिक थी, न उनका सङ्गठन ही दृढ था, और न कारखानोंकी स्थिति ही ऐसी थी, जिससे वहा इन उपायोंका सहारा लिया जाय। इससे वहांपर संघवादकी जड जमना कठिन था। इसके अतिरिक्त वहापर जारशाहीका शासन इतना कठोर और दीर्घकालव्यापी था कि उसके विरुद्ध कोई भी आन्दोलन शस्त्रकी सहायता और गुप्तरीतिसे किये बिना सफल नहीं हो सकता था। 'क्रमश' 'धीरे धीरे' इत्यादि शब्द वहाके शब्दकोषसे निकाल दिये गये थे। उस समय तो वहा केवल "एक घाव और दो टुकडे" के सिद्धान्तका ही आधार रह गया था। न्यायसङ्गत उपायों द्वारा किसी भी इष्टसिद्धिकी प्राप्तिका प्रयत्न करना बिलकुल असभव हो गया था। ऐसी परिस्थितिमें रूसके लोगोंको मार्क्सके "वर्ग-कलह" और "सशस्त्र क्रांति" सिद्धान्त ही पसन्द आये। बोल्शेविक लोगोंने इन्हीं सिद्धान्तोंकी नीवपर अपने पन्थकी इमारत खडी की।

लेनिनने "दी स्टेट एन्ड रिवोल्यूशन" नामक ग्रन्थके ८४ वें पृष्ठमे लिखा है कि "बोल्शेविज्म" शब्द रूसी भाषाके 'Bolshivstvo शब्दसे निकला है, जिसका अर्थ मताधिक्य होता है। सन् १९०३ मे ब्रुसेल्समें रूसके साम्यवादियोंकी एक परिषद् हुई, जिसमें अन्तर्व्यवस्था सम्बन्धी मतभेदोंके कारण कई पक्ष हो गये थे। उसमें लेनिनके पक्षपातियोंकी सख्या सबसे अधिक थी। इसीसे इस पक्षको "बोल्शेविक" सज्ञा दी गयी, और वही नाम अभीतक प्रचलित है।

बोल्शेविक शब्दको बोलते ही मानसिक कल्पना अन्तश्चक्षुओंके सम्मुख लेनिनकी तेजोमयी मूर्तिका निर्माण कर देती है। यदि कोई इसका कारण पूछे तो उसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि लेनिन बोल्शेविज्ममय और बोल्शेविज्म लेनिनमय है। लेनिन ही इस मतकी आत्मोंकी ज्योति और हृदयका प्राण है। वही इसका कर्णाधर्ता और विधाता है। उसीकी कर्तृत्वशक्ति और साहसके कारण इस मतका प्रचार हुआ, और उसीके नेतृत्वमें यह अधिकाराख्ढ भी हुआ। आज भी इस मतका सामर्थ्य और स्फूर्ति लेनिनपर ही निर्भर है। ट्राट्स्की, जीनाफीफ आदि अन्य लोग भी इस मतके नेता हैं, पर वे केवल लेनिनके सहायकमात्र हैं।

लेनिनका असली नाम लाडिमिर यूलेनाफ है। रूसमें जारशाहीके विरुद्ध आन्दोलन उपस्थित करनेके लिये, वहाँके प्रजापक्षके लेखकोंको अपनी रक्षाके लिये भिन्न २ उपनाम रखने पड़ते थे। उसीके अनुसार यूलेनाफने भी अपना उपनाम "निकोलाय लेनिन" रक्खा है। वही नाम अब संसारमें प्रचलित हो गया है। लेनिनका जन्म सन् १८७० में हुआ। उसका पिता रूसी विद्या-विभागमें एक अधिकारी था। उसने बचपनमें लेनिनको उत्तम शिक्षा दी थी। तत्कालीन अन्य रूसी युवकोंके समान लेनिन भी युवावस्थाहीसे स्वतन्त्रतादेवीका उपासक बन गया। उसने उसी समयसे स्वार्थत्यागके राज्यमें प्रवेश किया। जब वह कालेजमें पढ़ता था, उसी समय उसके ज्येष्ठ भ्राताको

फासीकी सजा दी गयी थी। उसकी स्त्री भी एक बार दे
निर्वासित हो चुकी थी और वह स्वय भी कैद कर लिया ग
था। पर उसके विरुद्ध प्रमाण न मिलनेसे वह छोड दिया गय
तोभी उसे युनिवर्सिटीमें पुनः स्थान नहीं मिला। 'इस
पश्चात् भी कई बार उसे देशनिर्वासनका दण्ड मिला, अ
कुछ समयतक वह साइबेरियामें भी कैद रक्खा गया, पर
माताका दुलारा लाल अपने उद्देशसे तनिक भी विचलित
हुआ। क्या स्वदेशमें और क्या विदेशमें हर समय वह अ
मतका प्रचार करनेमें प्रयत्नशील रहा।

लेनिन अपनेको मार्क्सका अनुयायी मानता है। उस
कथन है कि मेरे मतमें कुछ भी नवीनता नहीं। मैं तो केव
मार्क्सके बताये पथका पथिक हूं। बहुतसे अन्य साम्यवादी
मार्क्सके अनुयायी होनेका दावा रखते हैं, लेकिन या तो
मार्क्सके सिद्धांतोंको समझ ही न सके हैं, या जानबूझक
स्वार्थवश हो,उसके सिद्धांतोंका मनमाना अर्थ लगाते हैं। अन्य
मार्क्सके ग्रन्थोंका निष्पक्षपात या सत्य जिज्ञासासे अध्यय
करनेवाले व्यक्तिका मत उसके मतोंसे कदापि भिन्न नहीं
सकता। कहा जाता है कि लेनिनका "रूसमें धनियों
सत्ताका उत्कर्ष" (The Development of capitalism
in Russia) नामक ग्रन्थ रूसमें बहुत प्रसिद्ध है। परन्
यहा तो उसका केवल "सरकार और क्रान्ति" (The Stat
and the Revolution) नामक ग्रन्थ ही प्राप्य है। उसी

उसने मार्क्स और ऐंजिलके अवतरण देकर अपने मतके कार्यक्रमका समर्थन किया है। "नामूलं लिख्यते किंचित्" के प्रतिज्ञानुसार इस पुस्तकमें भी मार्क्सके आधारके बिना किसीने भी विरोध या प्रतिपादन नहीं किया है।

यह ग्रन्थ अपूर्ण है। सन् १९१७ के अगस्तमें अर्थात् बोल्शेविक क्रांतिके तीन मास पूर्व इस पुस्तककी भूमिका लिखी गयी है, जिसमें मार्क्सके मतोंपर पड़ा हुआ भ्रमजाल दूर किया गया है। इसके आगेके भागमें लेखकका विचार १९०५ की क्रांति और १९१७ की ज़ारशाहीके उच्छेदपर मीमांसा करनेका था, लेकिन क्रांति प्रारम्भ हो जानेके कारण लेनिनपर उससे भी अधिक महत्त्वका कार्य राज्यशासनकी व्यवस्थाका आ पड़ा, जिससे यह ग्रन्थ अपूर्ण ही रह गया। तारीख ३० नवम्बरको लेनिनने उक्त पुस्तकमें यह अंतिम वाक्य लिखा है—

"It is more pleasant and more useful to live through the experience of revolution than to write about it"

इस ग्रंथको पढ़नेसे लेनिनके मतका वास्तविक स्वरूप मालूम हो जाता है। अतएव हम उसका सारांश कुछ शब्दोंमें नीचे लिख देते हैं—

"सरकार"की उत्पत्ति क्यों हुई? इस विषयपर प्रकाश डालते हुए लेनिन कहता है कि जब समाजमें भिन्न२ दो पक्ष हो जाते हैं और उन दोनोंके हितोंमें जब विरोध पैदा हो जाता है, तब उनके

नहीं हो सकता। पूंजीपतियोंकी सत्ताका नाश करनेपर भी वैयक्तिक धनवानोंका विरोध शेष रह जायगा, जिसका विरोध सशस्त्रसेना द्वारा करनेमें भी वे न चूकेंगे। इस विरोधका पूर्ण रूपसे नाश करनेके लिये समाजके अन्य तटस्थ लोगोंको—कृषक, डाक्टर, इंजिनियर आदि ऊंचे दरजेके श्रमजीवियोंको—असली श्रमजीवियोंमें सम्मिलित करके नवीन समाजकी रचना करनी होगी। इसके लिये कुछ समयतक श्रमजीवी सरकारका स्थापित करना नितान्त आवश्यकीय है।

मार्क्सने अपने "The State that is the Protectorate organised as the ruling"नामक ग्रन्थमें श्रमजीवी सरकारका उल्लेख किया है। उसका कथन है कि यह सरकार असल मजदूरोंके संगठनसे बनायी जाय। लेनिनपर कितने लोग यह आक्षेप करते हैं कि उसकी राज्यपद्धतिमें केवल शहरोंके औद्योगिक श्रमजीवियोंको ही अधिक मत मिलनेकी व्यवस्था की गयी है। लोकशाहीका नायक कहलाने वाले, सार्वजनिकमतकी घोषणा करने वाले इस नेताने अपने हाथमें राज्यसूत्र आते ही धनवानों और कारखाने वालोंका मताधिकार छीन लिया। परन्तु उनका यह आक्षेप असगत है। लेनिन तो साफ कहता है कि 'सरकार' नामक संस्था एक दलका अधिकार दूसरे दलपर चलानेके लिये ही पैदा होती है। धनवानोंकी सत्ताको नष्ट करनेके लिये श्रमजीवी सरकार बनायी जाती है। इस सरकारको सगठित करनेके लिये अन्य लोगोंको अधिकार

देनेसे बड़ी हानि होगी। पूंजीपतियोंकी सरकार और मजदूरोंकी सरकारमें यही अन्तर है कि श्रमजीवी सरकारमें सब तरहके लोग सम्मिलित हो सकते हैं। यदि दूसरे लोगोंको भी श्रमजीवियोंके सिद्धान्तोंकी उत्तमता मालूम हो गयी, उनकी नैसर्गिकतापर उनका ध्यान आकृष्ट होगया, एवं उनके द्वारा की गयी समाजस्थापना उन्हें सुखप्रद मालूम हुई तो वे आपही उस जागृत श्रमजीवीदलमें सम्मिलित हो जायँगे। इस प्रकार जब सब लोग उसमें सम्मिलित हो जायँगे तब सारा समाज ही श्रमजीवीमय हो जायगा और वर्गभेद बन्द होकर वर्गकलह मिट जायगा। फिर तो सरकार आपही नष्ट हो जायगी। उसी तरह नष्ट हो जायगी जिस प्रकार पानीका आवागमन बन्द हो जानेसे नदीका पानी सूख जाता है। "The authority of the Government over persons will be replaced by the administration of the things and the direction of the process of production" आजकल समाजमें सरकारकी सत्ता व्यक्तिपर रहती है, पर भविष्यमें सरकारके जिम्मे सामाजिक बातोंकी व्यवस्था और उत्पादनकार्यों के उपायोंकी देखरेखका कार्य रहेगा।

लेकिन इच्छित अवस्था प्राप्त होने तक मध्यकी सक्रमणावस्थामें समाजके अन्दर अनियन्त्रित श्रमजीवी सरकारका होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह कि स्वाभिमानी युद्धग्रस्त श्रमजीवियोंके सिवा दूसरोंको सरकारके निर्वाचनका अधि

कार न रहे, और उस सरकारको अपने विरुद्ध आचरण करने वालोंको शारीरिक दण्ड देनेका बेरोक अधिकार रहे। यह श्रमजीवी सरकार लुटेरे पूंजीपतियों और कारखानेवालोंको भांति २ के बन्धनोंसे जकडेगी, एवं उनके वाक् और व्यवहार-स्वातन्त्र्यको बिलकुल मर्यादित कर देगी। मजदूरोंकी वर्तमान दासताको नष्ट करनेके लिये ऐसा करना अनिवार्य है। सम्भव है प्रजासत्तात्मकवादी इसे देखकर भौंहें टेढी करेंगे, पर उसके पहले उन्हें यह सोच लेना चाहिये कि आधुनिक प्रजातन्त्रवाद भी तो ऐसा ही है। उसमें भी तो आवश्यकता पडनेपर अल्प-मतवाले बहुमतवालोंकी बातें माननेके लिये मजबूर किये जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रजासत्तात्मक सरकार भी बहु-मतकी सत्ता अल्पमतपर जबरन लादनेवाली सरकार है। फिर श्रमजीवी सरकार और प्रजातन्त्रवादमें क्या अन्तर है।

इस प्रकार समाजमें श्रमजीवीसरकार स्थापित होजानेपर उसे समाजकी पुनर्रचनाका कार्य हाथमें लेना चाहिये। राज्य-व्यवस्थाके लिये लेनिनने पेरिसके कम्यूनको ही आदर्श माना है। सन् १८७०—७१ में फ्रेंच-जर्मन-युद्धके समय समाज सत्ता-वादी दलने क्रान्ति करके इसे स्थापित किया था। यद्यपि इसका अस्तित्व बहुत कम समयतक रहा पर तोभी समाजसत्तावादि-योंकी राज्यव्यवस्थाकी प्रयोगदृष्टिसे यह बहुत महत्त्वकी है। मार्क्सने भी इसी दृष्टिसे उसकी मीमांसा की है। कम्यूनके इस प्रयोगसे यह बात सिद्ध हो गयी कि धनवानोंकी राज्य-पद्धतिको

बनाये रखनेसे कार्य सिद्धि न होगी। श्रमजीवियोंके हाथमें सत्ता आते ही उन्हें चाहिये कि पुराने राज्यशकटको छिन्न भिन्न कर डालें। विध्वंस हो जानेपर रचनाका कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। कम्यूनने प्राचीन सेना तोड़कर राष्ट्रीय सशस्त्र रक्षक-सेवकोंकी योजना की। कम्यूनके सूत्र एक कौंसिलके हाथमें दिये गये। इस कौंसिलमें पेरिसके भिन्न २ भागोंके निर्वाचित किये हुए प्रतिनिधि सम्मिलित थे जो कि अपने २ मतदाताओंके उत्तरदायी भी थे। सब संघोंको अपने अपने प्रतिनिधिका कार्य पसन्द न होनेपर उसके स्थानपर दूसरा प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार था।

मतलब यह कि कम्यूनने राज्यशकटका प्रत्येक घटक लोक-नियुक्त और समान वेतनभोगी बना दिया।

उपरोक्त (पेरिसके समान) व्यवस्था यह (कम्यून) फ्रांस देश-के प्रत्येक ग्राममें करना चाहती थी। यह प्रत्येक ग्राममें उसके पूर्णत स्वायत लोकनियुक्त कौंसिल स्थापित किया चाहती थी। इसी कौंसिलको कम्यून नाम दिया गया था और इसी ग्राम्य कम्यूनके प्रतिनिधियोंका राष्ट्रीयमण्डल स्थापित करनेका विचार था।

लेनिनका कथन है कि मार्क्सके मतानुसार समाजका पूर्ण रूपान्तर एकदम नहीं हो सकता, इसके लिये कुछ समयकी आवश्यकता है। इस बीचके संक्रमणकालमें समाजकी व्यवस्था उसके अन्तिम स्वरूपसे बिलकुल भिन्न प्रकारकी रहेगी।

क्रान्तिके होते ही जमीन और कारखाने व्यक्तिगत अधिकारोंसे निकालकर राष्ट्रके अधिकारमें दे दिये जायंगे। उत्पादनके सब साधन राष्ट्रीय समझे जायगे। समाजके प्रत्येक व्यक्तिको वही कार्य करना होगा जो समाजको उपयुक्त हो। प्रत्येक व्यक्तिको उसके कार्यके लिये प्रमाणपत्र दिया जायगा। उस प्रमाणपत्रको बतलानेपर उसमें लिखे हुए कार्यके परिमाणसे उसे सार्वजनिक भाण्डारसे आवश्यक सामग्री दी जायगी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिको उसके कामके बदलेमें सार्वजनिक व्यवस्थाका अंश काटकर आवश्यक वस्तुएं मिला करेंगी।

इस व्यवस्थाके अन्तर्गत "जो कार्य करेगा उसीको खानेको मिलेगा" इस तत्वका प्रतिपादन किया जायगा। जिस परिमाणसे श्रम करेगा उसी परिमाणसे बदला मिला करेगा। जिससे उत्पादनकार्यमें समता स्थापित हो जायगी और समाजके अन्दर जो धनियोंकी लूट जारी है वह बन्द हो जायगी।

परन्तु यह वास्तविक समानता नहीं, न इससे समाजमें वास्तविक न्याय ही स्थापित होनेकी आशा है। क्योंकि समाजमें सब मनुष्य एकसे नहीं हो सकते। कोई अशक्त होता है तो कोई सशक्त, कोई विवाहित होता है तो कोई अविवाहित, कोई निपूता होता है तो कोई पाच पुत्रोंका पिता, कोई सुस्त होता है तो कोई चालाक। इस प्रकार समाजमें स्थान २ पर विषमता पायी जाती है। इसलिये यदि समाजमें श्रमके मानसे ही आवश्यक वस्तुएं दी जायंगी तो एकको तो उन्हें इकट्ठीकर रखनेको

स्थान भी न मिलेगा एवं दूसरेको जीवननिर्वाहके लिये भी पर्य्याप्त सामग्री न मिलेगी, जिससे समताके स्थानमें विषमता उत्पन्न हो जायगी। पर सब विषमता एवं अन्याय एकदम ही दूर नहीं हो सकते। सक्रमणकालमें पूंजीपतियोंकी सत्ताके जो थोड़े बहुत दोष रह जायगे उनमेंसे यह श्रमानुसार बटवारेका एक है।

समाजकी इस सक्रमणावस्थामें सरकार अवश्य रहेगी। प्रारम्भमें धनिकोंका विरोध मिटानेके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। शनै शनै लोग बिना कहे ही कार्य करने लग जायगे। वे श्रमानुसार बटवारेके अभ्यस्त हो जायगे। अतएव इस बटवारेकी प्रथाको कार्यमें लानेके लिये भी सरकारकी आवश्यकता रहेगी।

जब लोग अपने इच्छानुसार कार्य करने लग जायगे, धनियोंका नाश हो जायगा, समाजमें केवल मजदूरदल रह जायगा, तब समाज अपनी संक्रमणावस्थाका अन्तकर आदर्शस्थितिको प्राप्त हो जायगा। मार्क्सने बड़े ही अच्छे शब्दोंमें इस आदर्श स्थितिका वर्णन किया है।

"समाजकी सर्वोत्कृष्ट सामुदायिक (Communist) अवस्थामें श्रमविभागके तत्त्वोंके द्वारा प्राप्त हुई दासताका अन्त हो जायगा। बौद्धिक और शारीरिक कार्योंका आधुनिक विरोध नष्ट हो जायगा। श्रम केवल उदरपोषणकाही साधन न समझा जाकर आवश्यक भोग्यपदार्थका स्थान ग्रहण करेगा। मानव-

जातिकी साङ्गोपाङ्ग उन्नति हो जायगी। उत्पादक साधनोंकी कमी न रहेगी। समाजकी शक्तिके विकाससे सम्पत्तिका प्रवाह सतत रूपसे प्रवाहित होता रहेगा। समाजको जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जायगी तभी पूंजीपतिसत्ताके कानूनक्षेत्रसे परे दृष्टिपात करना सम्भव होगा। तभी समाजकी ध्वजाके ऊपर स्वर्णाक्षरोंसे लिखे हुए ये शब्द फड़कने लगेंगे—

"From each according to his ability to each according to his needs" "प्रत्येकसे उसकी शक्तिके अनुसार प्रत्येकको उसकी आवश्यकतानुसार।"

मतलब यह कि प्रत्येक व्यक्तिसे शक्तिके अनुसार कार्य लिया जायगा और आवश्यकतानुसार सामान दिया जायगा।

इस अवस्थामें सरकारकी कोई आवश्यकता न रह जायगी। यह स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हितके तत्वोंसे परिचित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कार्य करनेका अभ्यस्त हो जायगा, तो फिर किसी प्रकारके बाह्य नियन्त्रण (सरकार) की आवश्यकता न रहेगी और जब सरकारकी कोई आवश्यकता ही न रहेगी तो फिर वह आपही आप कुम्हलाकर निर्जीव हो जायगी।

आधुनिक पूंजीपतियोंकी सत्ताके जमानेमें श्रम तो तराजूपर तौला जाता है, पर मजदूरी उसके अनुसार नहीं दी जाती। जहांतक हो सकता है कम देनेकी चेष्टा की जाती है। लेकिन जब उत्पादक साधन बढ़ जायगे, माल अधिक पैदा होने लगेगा और प्रत्येक व्यक्ति जीतोड़ परिश्रम करने लगेगा,

तब श्रम तौलनेकी कोई आवश्यकता न रहेगी और न प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकतानुसार वस्तुए देनेमें ही किसी प्रकारकी आपत्ति शेष रह जायगी।

मार्क्सने इस सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको सामुदायिक (Communistic) और इसके पूर्वकी सक्रमणावस्थाको सामाजिक (Socialistic) सज्ञा दी है, और इस अन्तिम सर्वोत्कृष्ट अवस्थाकी ओर लक्ष्य करके ही लेनिनने अपने पक्षका नाम . दिया है। यही लेनिनके मतका सार है। लेनिनके मुख्य सिद्धान्त उगलियोंपर गिननेके योग्य और बहुतही स्पष्ट हैं। सन् १९१९ के मार्चमें मास्कोके अन्तर्गत कम्यूनिस्ट पक्षकी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् हुई थी, जिसमें लेनिनने अपनी मतपत्रिका पेश की थी। उसमें भी इस सिद्धान्तका स्वतन्त्र विवेचन किया था और उसपर किये आक्षेपोंका योग्यतापूर्वक खण्डन किया था। आजकल लेनिनके सिद्धान्तोंपर भिन्न भिन्न लोगोंकी भिन्न २ राय है। कुछ इसे अच्छा बतलाते हैं कुछ बुरा। इसलिये हम पुनरुक्तिके दोषको स्वीकार करते हुए लेनिनके सिद्धान्तोंको उसकी मतपत्रिकाके आधारपर सक्षिप्त रूपमें नीचे देते हैं—

१—ससारमें वर्गकलह परस्पर बढता जायगा। पू जीपतियोंकी सत्ता और पूजी बढती चली जायगी, और समाजकी सब पू जीको पू जीपति चूस लेंगे, जिससे श्रमजीवियोंकी स्थिति और भी दिन दिन बिगडती जायगी, पच पू जीपतियों और मजदूरोंका पारस्परिक कलह भयकरता धारण करेगा।

स्त्रियोंको मताधिकार

फ्रांसकी क्रांतिके समय जब यूरोपमें पुरुषोंके लिये आम मताधिकार की बात बड़े ज़ोर शोरसे चल रही थी तब वहांकी राष्ट्रीय सभा (National Assembly)के सामने एक दरख्वास्त पेश की गयी थी जिसमें स्त्रियोंको मताधिकार देनेकी प्रार्थना की गयी थी। फ्रांसके कई राजनीतिज्ञोंने इसका समर्थन किया था। उसमें कहा गया था कि मताधिकार प्रत्येक नागरिकका नैसर्गिक अधिकार है। इससे स्त्रियोंको वंचित रखना अन्याय है क्योंकि स्त्रियां भी नागरिक हैं। इसके बाद बेन्थम, थामस, हेयर, प्रोफेसर सिजविक, जान स्टुअर्ट मिल प्रभृति कितने ही संसार-विख्यात राजनीतिक लेखकोंने स्त्रियोंके मताधिकारके लिये आवाज़ उठायी थी। इन विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें बड़ी योग्यतासे इस विषयकी पुष्टि की है।

उन्नीसवीं सदीके मध्यकालमें स्त्रियोंको मताधिकार देनेका तत्त्व कुछ न कुछ व्यावहारिक रूप ग्रहण करने लगा। अमेरिकामें पहले पहल इसका श्रीगणेश हुआ। अमेरिकाके कई राज्योंने स्थानीय चुनावमें स्त्रियोंके मत लेने शुरू किये। तबसे इस तत्त्वका वहाँ बराबर विकास हो रहा है और आशा की जाती है कि निकट भविष्यमें वहां स्त्रियां पुरुषोंके समान विस्तृतरूपसे मता-

. प्राप्त कर लेंगी।

इङ्गलैंडमें स्त्रियोंको मताधिकार

इङ्गलैंडमें फिलहाल स्त्रियोंको पार्लामेन्टके चुनावके अतिरिक्त सर्वत्र मताधिकारके वे अधिकार प्राप्त हैं जोकि पुरुषोंको हैं। इतना ही नहीं इङ्गलैंडमें मेयर (Mayor) एल्डरमन (Alderman) और म्युनिसिपल मेम्बर आदि पद भी स्त्रियां पा सकती हैं। कई बार अनुदार और उदार दल दोनोंने प्रस्ताव पासकर सब चुनावोंमें स्त्रियोंको मताधिकार देनेके प्रस्ताव पास किये हैं। विलायतके मजदूरदलके आदर्शों में स्त्रियोंको पुरुषोंकी तरह सम्पूर्ण मताधिकार दिलवानेका भी एक आदर्श है। अभी कुछ दिन पहले स्त्रियोंने सम्पूर्ण मताधिकारके लिये बडा रौला मचाया था। स्त्रियोंने पार्लेमेन्टतकपर धावे किये थे। उस समयके प्रधान मन्त्री मि० एस्क्विथ बडी बुरी तरह पीटे गये थे। आस्ट्रेलियामें स्त्रियोंको न केवल पुरुषोंके समान मताधिकार ही प्राप्त हैं वहां स्त्रियां पुरुषोंकी तरह पार्लमेन्टकी मेम्बर भी हो सकती हैं। टस्मानिया और न्यूजीलैंडमें स्त्रियोंको पुरुषोंके बराबर मताधिकार प्राप्त हैं। नार्वे और फिनलैंडमें क्या पार्लेमेन्टरी और क्या म्युनिसिपल चुनाव सबमें स्त्रियोंको पुरुषोंके बराबर मताधिकार प्राप्त हैं। कनाडा प्रभृति कई राज्योंमें तो विवाहित, अविवाहित, विधवा, सधवा आदि सब बालिग स्त्रियोंको ठीक पुरुषोंके बराबर मताधिकार हैं।